महावीर

युग और जीवन-दर्शन

डॉ. हीरालाल जैन, डॉ. आ.ने. उपाध्ये

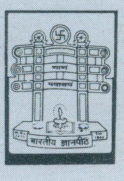

महावीर

युग और जीवन-दर्शन

लेखक

डॉ. हीरालाल जैन, डॉ. आ. ने उपाध्ये

भारतीय ज्ञानपीठ

मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला : हिन्दी ग्रन्थांक 15

महावीर युग और जीवन-दर्शन
डॉ. हीरालाल जैन, डॉ. आ. ने. उपाध्ये

प्रकाशक :
भारतीय ज्ञानपीठ
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड
नयी दिल्ली-110 003

मुद्रक :
एस. के. कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स/विकास ऑफसेट
दिल्ली-110 032

तीसरा पैपरबैक संस्करण : 1998
मूल्य : 15.00 रुपये

© भारतीय ज्ञानपीठ

MAHAVIR : Yug Aur Jeevan- Darshan
Dr. Hiralal Jain, Dr. A. N. Upadhye

Published by
Bharatiya Jnanpith
18, Institutional Area, Lodi Road
New Delhi-110 003

Third Paperback Edition : 1998
Price : Rs.15.00

प्रस्तुति

भारतीय ज्ञानपीठ को इस बात का गर्व है कि उसके द्वारा भगवान् महावीर के परम-पावन 2500वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर इस पुस्तक, 'महावीर : युग और जीवन-दर्शन' का प्रकाशन हो रहा है। कृतिकार हैं—भारतीय विद्या और जैन-विद्याओं के पारंगत विद्वान (स्व.) डॉ. हीरालाल जैन तथा डॉ. आ. ने. उपाध्ये। वास्तव में इस पुस्तक में दो रचनाओं का संपादित रूप सम्मिलित है : एक निबन्ध है—स्व. डॉ.हीरालाल जैन का, जिसे उन्होंने 'वीरजिणिंदचरिउ' की प्रस्तावना के रूप में लिखा था; और दूसरा एक व्याख्यान का हिन्दी अनुवाद है, जिसे डॉ. उपाध्ये ने इण्डियन इंस्टीट्यूट आफ कल्चर, बेंगलोर के तत्त्वावधान में विशिष्ट श्रोताओं के सामने प्रस्तुत किया था। यद्यपि ये दोनों रचनाएँ अलग-अलग ढंग से लिखी और परिकल्पित की गयी हैं, फिर भी दोनों संयुक्त रूप में एक सुन्दर और उपयोगी इकाई का आकार ले लेती हैं; क्योंकि पुस्तक में इसके शीर्षक से ध्वनित भगवान् महावीर से सम्बन्धित सभी पक्षों पर सारगर्भित विचार किया गया है। सूक्ष्मदृष्टि पाठक को अवश्य लगेगा कि कहीं-कहीं कुछ पुनरावृत्ति हुई है। इस पुस्तक के निर्माण की परिस्थिति में ऐसा होना स्वाभाविक है।

बहुत समय से भगवान् महावीर के विषय में एक ऐसी पुस्तक की आवश्यकता थी जो उनके सम्बन्ध के सभी विषयों को समाहित कर ले और इतनी कठिन भी न हो कि सामान्य पाठक की समझ से बाहर हो जाय। अब तक प्रकाशित पुस्तकों में यह पुस्तक इसी ढंग की लगती है। पुस्तक की विशेषता यह है कि इसमें भगवान् महावीर के जीवन सम्बन्धी पक्षों का चित्रण इस प्रकार किया गया है कि कोई सम्प्रदाय-भेद उभरकर कर सामने न आये। महावीर युगीन समस्याओं का चित्रण इस प्रकार हो कि बुद्ध की समसामयिकता भी इस सन्दर्भ में आ जाय कि उनके सामने भी क्या सामाजिक समस्याएँ थीं; और भगवान् महावीर के जीवन-दर्शन के वे सब पक्ष उजागर हों जो उनके युग की पीढ़ी और आज की पीढ़ी की समस्याओं से जुड़े हैं। लेखकों की बौद्धिक प्रामाणिकता अक्षुण्ण रहे और श्रद्धालु पाठकों के लिए भी जीवनी स्वीकार्य हो, यह उपलब्धि बहुत महत्वपूर्ण है।

सम्भवतया यह पुस्तक प्रकाश में न आती; यदि भारतीय ज्ञानपीठ के संस्थापक-न्यासधारी श्री साहू शान्तिप्रसाद जी ने यह अनुभव न किया होता कि भगवान् महावीर 2500वां निर्वाण महोत्सव-महासमिति के तत्त्वावधान में प्रकाशनार्थ प्रस्तावित महावीर जीवनी के सम्बन्ध में अभी समाधान सध नहीं पाया है, क्योंकि जीवनी के उसके विषय में प्राप्त आधारभूत सामग्री तथा तात्पर्य बोध में विविधता है। अतः इस बीच इस तरह की पुस्तक का प्रकाशन बहुत हद तक आवश्यकता की पूर्ति कर सकेगा। इसलिए भी कि अनुभवी विद्वान् और लेखकों ने इस पुस्तिका में ऐतिहासिक दृष्टि की प्रामाणिकता को बनाये रखने का प्रयास किया है।

मुझे इसमें सन्देह नहीं है कि यह पुस्तक, यद्यपि छोटी है, बहुत समय से चली आयी मांग की पूर्ति करेगी और एक मित्र की भाँति उन सबका मार्गदर्शन करेगी जो भगवान् महावीर के अमर जीवन और उनके सन्देश को स्वयं समझना चाहते हैं तथा अपार जन-समुदाय तक पहुँचाना चाहते हैं।

नयी दिल्ली
13 नवम्बर, 1974

लक्ष्मीचन्द्र जैन
भारतीय ज्ञानपीठ

सम्पादकीय

आज जबकि मानव जाति अपनी उत्तरोत्तर वैज्ञानिक तथा प्राविधिक उन्नति होते हुए भी आवश्यकता, अभाव, शंका, भ्रान्ति, संघर्ष, संत्रास और युद्ध की विभीषिका से ग्रसित है, सौभाग्य से इस बीच भगवान् महावीर के 2500वें निर्वाण महोत्सव का अवसर आ पहुँचा। महावीर तीर्थंकर थे और उन गिने-चुने महामानवों में से थे जो सभ्य जगत् में अब तक अवतीर्ण हुए हैं। जीवन के विविध रूपों के प्रति आदर-भाव रखना—यह मानवीय चरित्र को परखने की उनकी सबसे बड़ी कसौटी थी। इसमें हिंसा के लिए कोई स्थान नहीं था, फिर चाहे वह वैचारिकी हिंसा (भाव-हिंसा) हो या क्रियारूप हिंसा (द्रव्य-हिंसा)। यही अहिंसा का सिद्धान्त है। जन्म से राजकुमार होकर भी महावीर ने जीवन की उस पद्धति को अपनाया, जिसमें मोह और परिग्रह के लिए कम से कम स्थान था। उन्होंने अपनी इच्छाओं को संयमित तथा आवश्यकताओं को सीमित किया, और इस प्रकार जीवन-मरण की विविध समस्याओं का हल खोज निकाला। उन्होंने अपरिग्रह का केवल उपदेश ही नहीं दिया, स्वयं अपने जीवन में भी उतारा। उनके उपदेश उन सभी के लिए हैं जो उनसे मार्गदर्शन प्राप्त करना चाहते हैं। बौद्धिक सहिष्णुता अर्थात् दूसरों के दृष्टिकोण को समझना, उनके जीवन-दर्शन का महत्त्वपूर्ण अंग रहा है।

आवश्यकता इस बात की है कि महावीर के जीवन और उनके युग के प्रामाणिक तथ्य इस प्रकार प्रस्तुत किये जाएँ कि हम उन्हें भलीभाँति समझ सकें और अपनी सम्पूर्ण क्षमता के साथ उनके सिद्धान्तों को अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न कर सकें। इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर प्रस्तुत है—यह पुस्तक 'महावीर : युग और जीवन-दर्शन'। इसमें दो निबन्ध हैं जो एक दूसरे के पूरक हैं। पहला निबन्ध स्व. डॉ. हीरालाल जैन का है जो उन्होंने भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित अपनी पुस्तक 'वीरजिणिंदचरिउ' की प्रस्तावना के रूप में लिखा था। दूसरा निबन्ध डॉ. आ. ने. उपाध्ये का है। यह उनके उस अंग्रेजी व्याख्यान का हिन्दी अनुवाद है जो उन्होंने इण्डियन इंस्टीटयूट आफ कल्चर,

बेंगलोर के तत्त्वावधान में कुछ वर्ष पहले दिया था। दोनों निबन्ध गहन अध्ययन के परिणाम हैं। आशा है, दोनों का यह संकलित रूप हिन्दी जगत् के लिए भगवान् महावीर के जीवन और दर्शन को समझने में उपादेय सिद्ध हो सकेगा।

अपनी ओर से तथा अपने दिवंगत मित्र डॉ. हीरालाल जैन की ओर से हम भारतीय ज्ञानपीठ की अध्यक्षा श्रीमती रमा जैन तथा संस्थापक श्रीमान् साहू शान्तिप्रसाद जी जैन के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं। इसके शीघ्र प्रकाशन की व्यवस्था के लिए हम श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ के आभारी हैं।

आ. ने. उपाध्ये
कैलाशचन्द्र शास्त्री

महावीर निर्वाण-दिवस
नवम्बर 13, 1974

विषयानुक्रम

(क) प्रस्तुति
(ख) सम्पादकीय

महावीर और उनका युग

1. महावीर के तीर्थंकरत्व की पृष्ठिभूमि
2. महावीर—जन्म और कुमारकाल
3. तप
4. केवलज्ञान
5. धर्मोपदेश
6. महावीर-वाणी पर आश्रित साहित्य
7. महावीर-निर्वाण-काल
8. महावीर-जन्म-स्थान
9. महावीर-का तपकल्याणक-क्षेत्र
10. भगवान् का केवलज्ञान-क्षेत्र
11. महावीर-देशना-स्थल
12. महावीर-निर्वाण-क्षेत्र
13. महावीर के समकालीन ऐतिहासिक पुरुष
14. महावीर जीवनचरित्र विषयक साहित्य का विकास

महावीर और उनका जीवन-दर्शन

15. पुरोहित और संन्यासी
16. भारत के पूर्वांचल में विचार-क्रान्ति
17. महावीर
18. महावीर की विरासत : जैन-साहित्य
19. महावीर : जीवन-दर्शन
20. उपसंहार

महावीर और उनका युग

1. महावीर के तीर्थंकरत्व की पृष्ठभूमि

भगवान् महावीर जैनधर्म के तीर्थंकर थे। किन्तु जैन ऐतिहासिक परम्परानुसार न तो वे जैनधर्म के आदि प्रवर्तक थे और न सदैव के लिए अन्तिम तीर्थंकर।

अनादि काल से धर्म के तीर्थंकर होते रहे हैं और आगे भी होते रहेंगे। उनके द्वारा उपदिष्ट धर्म में अपने-अपने युगानुसार विशेषताएँ भी रहती हैं, और उनके मौलिक स्वरूप में तालमेल भी बना रहता है। वर्तमान युग के आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ माने गये हैं, जिनका उल्लेख न केवल समस्त जैन पुराणों में अनिवार्य रूप से आता है, किन्तु भारत के प्राचीनतम धर्म-ग्रन्थों, जैसे ऋग्वेद आदि में भी नाना प्रसंगों में आया है।[1] उनसे लेकर महावीर तक हुए चौबीस तीर्थंकरों के चरित्र जैन पुराणों में विधिवत् वर्णित पाये जाते हैं[2]। धार्मिक, सैद्धान्तिक व दार्शनिक आदि दृष्टियों से मानो उनमें एकरूपता तथा एक ही आत्मा की व्याप्ति प्रकट करने के लिए महावीर के पूर्व-जन्म की परम्परा ऋषभदेव से जोड़ी गयी है। ऋषभदेव के पुत्र हुए प्रथम चक्रवर्ती भरत जिनके नाम से इस देश का नाम भी भारतवर्ष पड़ा। यह बात समस्त वैदिक पुराणों में प्रायः एक मत से स्वीकार की गयी है[3]। इन्हीं भरत का एक पुत्र था—मरीचि। यह मरीचि भी पूर्व-जन्म से आया हुआ एक शबर का जीव था जिसने अपने सामान्य जीवन की प्रवृत्ति प्राणि-हिंसा को त्याग कर अहिंसा-व्रत ग्रहण किया था। मरीचि ने भगवान् ऋषभदेव के चरण-कमलों में दीक्षा ली थी। किन्तु उससे उन आदि तीर्थंकर द्वारा निर्दिष्ट कठोर मुनिव्रतों का पालन न हो सका

1. ऋग्वेद 10, 102, 6; 10, 136; 10, 166; 2, 33। भागवत पुराण 5, 6। विष्णु-पुराण 3, 18 आदि। इनमें वृषभ, केशी व वातरशन दिगम्बर मुनियों के उल्लेख ध्यान देने योग्य हैं।

2 समवायांग सूत्र 246 आदि। कल्पसूत्र। हेमचन्द्र-कृत त्रिषष्टि-शलाका-पुरुष-चरित। तिलोय-पण्णत्ति—महाधिकार 4। जिनसेन-कृत आदिपुराण। गुणभद्र-कृत उत्तरपुराण। पुष्पदन्त-कृत महापुराण (अपभ्रंश)।

3. भागवत-पुराण 5, 4, 9; 11, 2। विष्णु-पुराण 2, 1, 31। वायु-पुराण 33, 52। अग्नि-पुराण 107, 11, 12। ब्रह्माण्ड-पु. 14, 5, 62। लिङ्ग-पुराण 1, 47, 23। स्कन्द-पुराण कौमार-खण्ड 37, 57। मार्कण्डेय-पुराण 50, 41। इनमें स्पष्टतः उल्लेख है कि ऋषभ-पुत्र भरत के नाम से ही इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा।

और वह मुनिपद से भ्रष्ट हो गया। तथापि उसमें धार्मिक बीज पड़ चुका था और संस्कार भी उत्पन्न हो गये थे। अतएव देव और मनुष्य लोक में भ्रमण करते हुए अन्ततः उसने महावीर तीर्थंकर का जन्म धारण किया। इस प्रकार यह सहज ही देखा जा सकता है कि इन अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर की अध्यात्म-परम्परा आदि-तीर्थंकर ऋषभदेव से जुड़ी हुई प्रतिष्ठित पायी जाती है[1]।

किन्तु महावीर के साथ भी तीर्थंकर-परम्परा टूटती नहीं है। उनके एक शिष्य थे—उस समय के भारत-नरेश श्रेणिक-बिम्बसार। उनमें भगवान् महावीर द्वारा धर्म का बीज आरोपित किया गया। यद्यपि वे अपने पूर्व दुष्कृत्यों के कारण नरकगामी हुए, तथापि उनमें भी मरीचि के समान धार्मिक संस्कार प्रबलता से स्थापित हो चुका है, जिसके फलस्वरूप वे अपने अगले जन्म में एक नयी तीर्थंकर-परम्परा के आदि प्रवर्तक होंगे। अर्थात् वे भावी चौबीस तीर्थंकरों में महापद्म नामक प्रथम तीर्थंकर होंगे। इस प्रकार समग्र दृष्टि से विचार किया जाये, तो जैन परम्परा में यह बात दृढ़ता से स्थापित की गयी है कि जिस प्रकार महावीर पूर्व-पौराणिक परम्परा में ऐतिहासिक रूप से अन्तिम तीर्थंकर हैं, उसी प्रकार वे एक नयी तीर्थंकर-परम्परा के जन्मदाता भी हैं[2]।

2. महावीर-जीवन : जन्म व कुमारकाल

महावीर तीर्थंकर का जो चरित्र जैन साहित्य में पाया जाता है वह संक्षेप में इस प्रकार है। महावीर का जन्म एक क्षत्रिय राज-परिवार में हुआ। उनके पिता का नाम सिद्धार्थ और माता का प्रियकारिणी अथवा त्रिशलादेवी था। सिद्धार्थ का गोत्र काश्यप और त्रिशलाका पैत्रिक गोत्र वशिष्ठ का भी उल्लेख पाया जाता है। त्रिशलादेवी उस समय के वैशालीनरेश चेटक की ज्येष्ठ पुत्री, अथवा मतान्तर से चेटक की बहन थी। महावीर का शैशव व कुमारकाल उसी प्रकार लालन-पालन एवं शिक्षण में व्यतीत हुआ, जैसा उस काल के राजभवनों में प्रचलित था। उनकी बालक्रीडा का एक यह आख्यान भी पाया जाता है कि उन्होंने एक भीषण सर्प का दमन किया था, और इसी वीरता के कारण देव ने उन्हें महावीर व वीरनाथ की उपाधि प्रदान की। यह आख्यान हमें कृष्ण द्वारा कालियनाग के दमन का स्मरण कराता है[3]।

3. तप

अपनी तीस वर्ष की अवस्था में महावीर ने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। उनकी प्रव्रज्या का

1. महापुराण (संस्कृत) पर्व 74। महापुराण (अपभ्रंश) सन्धि 95।
2. महापुराण (संस्कृत) 76, 471-77।
3. महापुराण (सं.) 74, 288-95। महापुराण (अपभ्रंश) 96, 10, 10-15। भागवत-पुराण, दशम स्कन्ध।

स्वरूप यह था कि वे गृह त्यागकर कुण्डपुर के समीपवर्ती ज्ञातृषण्डवन में चले गये और उन्होंने अपने समस्त भूषण-वस्त्र त्याग दिये। अपने हाथ से उन्होंने अपने केशों को उखाड़ फेंका और वे तीन दिन का उपवास लेकर ध्यानस्थ हो गये। तत्पश्चात् वे बाहर देश-देशान्तर का भ्रमण करने लगे। वे निवास तो करते थे वनोपवन में ही, किन्तु अपने व्रतों और उपवासों के नियमानुसार दिन में एक बार नगर या ग्राम में प्रवेश कर भिक्षा ग्रहण करते थे। वे ध्यान और आत्मचिन्तन तथा समता-भाव की साधना या तो पद्मासन लगाकर करते थे अथवा खड्गासन से खड़े हुए ही नासाग्र दृष्टि रखकर। लेशमात्र हिंसा नहीं करना, तृणमात्र परायी वस्तु का अपहरण नहीं करना, लेशमात्र भी असत्य वचन नहीं बोलना, मैथुन की कामना को मन में भी स्थान नहीं देना तथा किसी प्रकार की धनसम्पति रूप परिग्रह नहीं रखना—ये ही पाँच उनके महाव्रत थे। इन निषेधात्मक यमों या व्रतों के साथ-साथ वे उन शारीरिक और मानसिक पीड़ाओं को भी शांति और धैर्यपूर्वक सहन करने का अभ्यास करते थे जो गृहहीन, निराश्रय, वस्त्रहीन व धनधान्य-हीन त्यागी के लिए प्रकृतितः उत्पन्न होती हैं; जैसे भूख-प्यास, शीत-उष्ण, डाँस-मच्छर आदि की बाधाएँ जो परीषह कहलाती हैं।

4. केवलज्ञान

इन तपस्याओं का अभ्यास करते हुए उन्होंने अपनी प्रव्रज्या के बारह वर्ष व्यतीत कर दिये। फिर एक दिन जब वे ऋजुकूला नदी के तीर पर जृम्भक ग्राम के समीप ध्यानमग्न थे, तभी उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। इस केवलज्ञान का स्वरूप यदि हम सरलता से समझने का प्रयात्न करें, तो यह था कि जीवन और सृष्टि के सम्बन्ध में जो समस्याएँ व प्रश्न सामान्य जिज्ञासु चिन्तक के हृदय में उठा करते हैं, उनका उन्हें सन्तोषजनक रीति से समाधान मिल गया। यह समाधान था—वे छह द्रव्य तथा सात तत्त्व जिनके द्वारा त्रैलोक्य की समस्त वस्तुओं व घटनाओं का स्वरूप समझ में आ जाता है। वे छह द्रव्य इस प्रकार हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। और वे सात तत्त्व इस प्रकार हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। जीवन का मूलाधार वह जीव या आत्मतत्त्व है जो जड़ पदार्थों से भिन्न है, आत्म-संवेदन तथा पर-पदार्थ-बोध रूप लक्षणों से युक्त है एवं अमूर्त और शाश्वत है। तथापि वह जड़ तत्त्वों से संगठित शरीर में व्याप्त होकर नाना रूप-रूपान्तरों व जन्मान्तरों में गमन करता है। जितने मूर्तिमान् इन्द्रियग्राह्य पदार्थ परमाणु से लेकर महास्कन्ध तक हमें दिखायी पड़ते हैं वे सब अजीव पुद्गल द्रव्य के रूप-रूपान्तर हैं। धर्म और अधर्म ऐसे सूक्ष्म अदृश्य अमूर्त तत्त्व हैं जो लोकाकाश में व्याप्त हैं और जो जीव व पुद्गल पदार्थों को गमन करने अथवा स्थिर होने के हेतु-भूत माध्यम हैं। आकाश वह तत्त्व है जो अन्य सब द्रव्यों को स्थान व अवकाश

देता है, और काल द्रव्य वस्तुओं के बने रहने, परिवर्तित होने तथा पूर्व और पश्चात् की बुद्धि उत्पन्न करने में सहायक होता है। यह तो सृष्टि के तत्त्वों व तथ्यों की व्याख्या हुई। किन्तु जीव की सुख-दुःखात्मक सांसारिक अवस्था को समझने और उसकी ग्रन्थि को सुलझाने आत्म-तत्त्व के शुद्ध-बुद्ध-प्रमुक्त स्वरूप के विकास हेतु अन्य सात तत्त्वों को समझने की आवश्यकता है। जीव और अजीव तो सृष्टि के मूल तत्त्व ही हैं। इनका परस्पर सम्पर्क होना यही आस्रव है। इस सम्पर्क या आस्रव से ऐसे बन्ध का उत्पन्न होना जिससे आत्मा का शुद्ध स्वरूप ढक जाय और उसके ज्ञान-दर्शनात्मक गुण कुण्ठित हो जायें, उसे बन्ध या कर्म-बन्ध कहते हैं। जिन संयमरूप क्रियाओं व साधनाओं द्वारा इस जीव व अजीव के सम्पर्क को रोका जाता है, उसे संवर कहते हैं। तथा जिन व्रत और तपरूप क्रियाओं द्वारा संचित कर्म-बन्ध को जर्जरित और विनष्ट किया जाता है, उसे निर्जरा कहते हैं। जब यह कर्म-निर्जरा की प्रक्रिया पूर्ण रूप से सम्पन्न हो जाती है, तब जीव अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, वह मुक्त हो जाता है, उसे निर्वाण मिल जाता है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि उक्त जीव और अजीव की पूर्ण व्याख्या में सृष्टि का पदार्थ-विज्ञान या भौतिकशास्त्र आ जाता है। आस्रव व बन्ध में मनोविज्ञान का विश्लेषण आ जाता है। संवर और निर्जरा तत्त्वों के व्याख्यान में समस्त नीति व आचार शास्त्र का समावेश हो जाता है, और मोक्ष के स्वरूप में जीवन के उच्चतम आदर्श ध्येय व विकास का प्रतिपादन हो जाता है। केवलज्ञान में इसी समस्त बोध-प्रबोध का पूर्णतः व्यापक व सूक्ष्मतम स्वरूप समाविष्ट है।

5. धर्मोपदेश

इस केवलज्ञान को प्राप्त कर भगवान् महावीर मगध की राजधानी राजगृह में आकर विपुलाचल पर्वत पर विराजमान हुए। उनके समवसरण व सभामण्डप की रचना हुई, धर्म व्याख्यान सुनने के इच्छुक राजा व प्रजागण वहाँ एकत्र हुए और भगवान् ने उन्हें अपने पूर्वोक्त तत्त्वों का स्वरूप समझाया, तथा जीवन के सुखमय आदर्श प्राप्त करने हेतु गृहस्थों को अणुव्रतों का एवं त्यागियों को महाव्रतों का उपदेश दिया।

6. महावीर-वाणी पर आश्रित साहित्य

भगवान् महावीर के इन्द्रभूति, गौतम, सुधर्म, जम्बू आदि प्रधान ग्यारह शिष्य थे जिन्हें गणधर कहा जाता है। उन्होंने महावीर के समस्त उपदेशों को बारह अंगों में ग्रन्थारूढ़ किया जो इस प्रकार थे–

1. आचारांग–इसमें मुनियों के नियमोपनियमों का वर्णन किया गया। इसका स्थान वैसा ही समझना चाहिए, जैसा बौद्धधर्म में है 'विनयपिटक' का है।

2. सूत्रकृतांग—इसमें जैनदर्शन के सिद्धान्तों तथा क्रियावाद, अक्रियावाद, नियतिवाद आदि उस समय प्रचलित मतमतान्तरों का निरूपण व विवेचन किया गया है।

3. स्थानांग—इसमें संख्यानुसार क्रमशः वस्तुओं के भेदोपभेदों का विवरण था। जैसे दर्शन एक, चारित्र एक, समय एक, प्रदेश एक, परमाणु एक, आदि। क्रिया दो प्रकार की जैसे—जीव-क्रिया और अजीव-क्रिया। जीव-क्रिया पुनः दो प्रकार की—सम्यक्त्व-क्रिया और मिथ्यात्व-क्रिया। इसी प्रकार अजीव-क्रिया भी दो प्रकार की—ईर्यापथिक और साम्परायिक इत्यादि।

4. समवायांग—इसमें [illegible] का निरूपण उनके भेदोपभेदों की संख्या के अनुसार किया गया है, जैसा कि स्थानांग में। किन्तु यहाँ वस्तुओं की संख्या स्थानांग के समान दश तक ही सीमित नहीं रही, किन्तु शत तथा शत-सहस्र पर भी पहुँच गयी है। इस प्रकार इन दो अंगों का स्वरूप त्रिपिटक के अंगुत्तरनिकाय के समान है।

5. व्याख्या-प्रज्ञप्ति—इसमें प्रश्नोत्तर रूप से जैनदर्शन व आचारविषयक बातों का विवेचन है।

6. नायाधम्मकहा—इसका संस्कृत रूप सामान्यतः ज्ञातृ-धर्म-कथा किया जाता है और उसका यह अभिप्राय बतलाया जाता है कि उसमें ज्ञातृ-पुत्र महावीर के द्वारा उपदिष्ट धार्मिक कथाओं का समावेश था। किन्तु सम्भवतया ग्रन्थ के उक्त प्राकृत नाम का संस्कृत रूपान्तर न्यायधर्म-कथा रहा हो और उसमें न्याय अर्थात् ज्ञान व नीतिसम्बन्धी संक्षिप्त कहावतों को दृष्टान्त स्वरूप कथाओं द्वारा समझाने का प्रयत्न किया गया हो, तो आश्चर्य नहीं है।

7. उपासकाध्ययन—इसमें उपासकों अर्थात् धर्मानुयायी गृहस्थों व श्रावकों के व्रतों को उनके पालने वाले पुरुषों के चारित्र की कथाओं द्वारा समझाने का प्रयत्न किया गया था। इस प्रकार यह अंग मुनि-आचार को प्रकट करने वाले प्रथम ग्रन्थ आचारांग का परिपूरक कहा जा सकता है।

8. अन्तकृद्दशा—जैन परम्परा में उन मुनियों को अन्तकृत कहा गया है जिन्होंने उग्र तपस्या करके घोर उपसर्ग सहते हुए अपने जन्म-मरण रूपी संसार का अन्त करके निर्वाण प्राप्त किया। इस प्रकार के दश मुनियों का इस अंग में वर्णन किया गया प्रतीत होता है।

9. अनुत्तरौपपातिकदशा—अनुत्तर उन उच्च स्वर्गों को कहा जाता है जिनमें बहुत पुण्यशाली जीव उत्पन्न होते हैं और वहाँ से च्युत होकर केवल एक बार पुनः मनुष्य योनि में आते है और अपनी धार्मिक वृत्ति द्वारा उसी भव से मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। इस अंग में ऐसे ही दश महामुनियों व अनुत्तर-स्वर्गवासियों के चारित्र का विवरण उपस्थित किया गया है।

10. प्रश्नव्याकरण—इसमें उसके नामानुसार मत-मतान्तरों के सिद्धान्तों सम्बन्धी

प्रश्नोत्तरों का समावेश था और इस प्रकार यह अंग व्याख्याप्रज्ञप्ति का परिपूरक रहा प्रतीत होता है।

11. विपाकसूत्र—विपाक का अर्थ है—कर्मफल। कर्मसिद्धान्त के अनुसार शुभ-कर्मों का फल सुख-भोग और दुष्कृत्यों का फल दुःख होता है। इसी बात को इस अंग में दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है।

12. दृष्टिवाद—इसके पाँच भेद थे—परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका। परिकर्म में गणितशास्त्र का तथा सूत्र में कर्मों और सिद्धान्तों का समावेश था। पूर्वगत के चौदह प्रभेद गिनाये गये हैं जिनके नाम हैं : 1. उत्पादपूर्व, 2. अग्रायणीय, 3. वीर्यानुवाद, 4. अस्तिनास्तिप्रवाद, 5. ज्ञानप्रवाद, 6. सत्यप्रवाद, 7. आत्म-प्रवाद, 8. कर्म-प्रवाद, 9. प्रत्याख्यान, 10. विद्यानुवाद, 11. कल्याणवाद, 12. प्राणवाद, 13. क्रियाविशाल और 14. लोकबिन्दुसार। इनमें अपने-अपने नामानुसार सिद्धान्तों व तत्त्वों का विवेचन किया गया था। इनमें आठवें पूर्व कर्मप्रवाद का विशेष महत्त्व है, क्योंकि वही जैनधर्म के प्राणभूत कर्म-सिद्धान्त का मूल स्रोत रहा पाया जाता है और उत्तरकालीन कर्म-सम्बन्धी समस्त रचनाएँ उसके ही आधार से की गयी प्रतीत होती हैं। इस समस्त रचनाओं को पूर्वगत कहने का यही अर्थ सिद्ध होता है कि उनके विषयों की परम्परा महावीर से भी पूर्वकालीन है। हाँ, महावीर ने सिद्धान्तानुसार उसके विशद रूप का पालन किया होगा।

दृष्टिवाद के चौथे भेद अनुयोग का भी जैन साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसे प्रथमानुयोग भी कहा जाता है और समस्त पौराणिक वृत्तान्तों, धार्मिक चरित्रों एवं आख्यानात्मक कथाओं आदि को प्रथमानुयोग के अन्तर्गत ही माना जाता है। षट्खण्डागम (सूत्र 1, 1, 2) की धवला टीका के अनुसार प्रथमानुयोग के अन्तर्गत पुराण के बारह भेद थे, जिनमें क्रमशः अरहन्तों, चक्रवर्तियों, विद्याधरों, वासुदेवों, चारणों, प्रज्ञाश्रमणों तथा कुरु, हरि, इक्ष्वाकु, काश्यपों, वादियों एवं नाथवंशों का वर्णन था।

दृष्टिवाद के पाँचवें भेद चूलिका के पाँच प्रभेद गिनाये गये हैं—जलगत, स्थलगत, मायागत, रूपगत और आकाशगत। इन नामों पर से प्रतीत होता है कि उनमें जल-थल आदि विषयों में भौगोलिक व तात्त्विक विवेचन किया गया होगा और सम्भवतः उन पर अधिकतर प्राप्त करने की मान्त्रिक-तान्त्रिक ऋद्धि-सिद्धि साधनात्मक क्रियाओं का विधान रहो हो।

दिगम्बर परम्परानुसार उक्त समस्त अंगसाहित्य क्रमशः अपने मूल रूप में विलुप्त हो गया। महावीर-निर्वाण के पश्चात् 162 वर्षों में हुए आठ मुनियों को ही इन अंगों का सम्पूर्ण ज्ञान था। इनमें अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु कहे गये हैं। तत्पश्चात् क्रमशः सभी अंगों और पूर्वों के ज्ञान में उत्तरोत्तर ह्रास होता गया और निर्वाण से सातवीं शती में ऐसी अवस्था उत्पन्न हो गयी कि केवल कुछ महामुनियों को ही इन अंगों व पूर्वों का आंशिक

ज्ञानमात्र शेष रहा, जिसके आधार से समस्त जैन शास्त्रों व पुराणों की स्वतन्त्र रूप से नयी शैली में विभिन्न देश-कालानुसार प्रचलित प्राकृतआदि भाषाओं में रचना की गयी।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार वीर-निर्वाण की दशवीं शती में मुनियों की एक महासभा गुजरात प्रान्तीय वल्लभी (आधुनिक वाला) नामक नगर में आहूत की गयी और वहाँ क्षमाश्रमण देवर्द्धि गणि की अध्यक्षता में से उक्त अंगों में ग्यारह अंगों का संकलन किया गया जो अब भी उपलब्ध हैं। यद्यपि ये संकलन पूर्णतः अपने मौलिक रूप को सुरक्षित रखते हुए नहीं पाये जाते। विषय की दृष्टि से इनमें हीनाधिकता स्पष्ट दिखायी देती है। भाषा भी उनकी वह अर्द्धमागधी नहीं है जो महावीर भगवान् के समय में प्रचलित थी। उसमें उनके काल से एक सहस्र वर्ष पश्चात् उत्पन्न हुई भाषात्मक विशेषताओं का समावेश भी पाया जाता है। तथापि सामान्यतः वे प्राचीनतम विषयों व प्रतिपादन-शैली का बोध कराने के लिए पर्याप्त हैं। उनका प्राचीनतम बौद्ध साहित्य से भी मेल खाता है। जिस प्रकार बौद्ध साहित्य त्रिपिटक कहलाता है, उसी प्रकार यह जैन साहित्य गणिपिटक के नाम से उल्लिखित पाया जाता है।

यह समस्त साहित्य अंगप्रविष्ट कहा गया है। इसके अतिरिक्त मुनियों के आचार व क्रियाकलाप का विस्तार से वर्णन अंगबाह्य नामक चौदह प्रकार की रचनाओं में पाया जाता है जो इस प्रकार है—

1. सामायिक, 2. चतुर्विंशतिस्तव, 3. वन्दना, 4. प्रतिक्रमण, 5. वैनयिक, 6. कृतिकर्म, 7. दशवैकालिक, 8. उत्तराध्ययन, 9. कल्पव्यवहार, 10. कल्पाकल्प, 11. महाकल्प, 12. पुण्डरीक, 13. महापुण्डरीक, 14. निषिद्धिका।

इन नामों से ही स्पष्ट है कि इन रचनाओं का विषय धार्मिक साधनाओं और विशेषतः मुनियों की क्रियाओं से सम्बन्ध रखता है। यद्यपि ये चौदह रचनाएँ अपने प्राचीन रूप में अलग-अलग नहीं पायी जातीं, तथापि इनका नाना ग्रन्थों में समावेश है और वे मुनियों द्वारा अब भी उपयोग में लायी जाती हैं।

वल्लभीपुर में मुनि-संघ द्वारा जो साहित्य-संकलन किया गया था, उसमें उक्त प्रथम ग्यारह अंगों के अतिरिक्त औपपातिक, राय-पसेणिय आदि बारह उपांग; निशीथ, महानिशीथ आदि छह छेदसूत्र; उत्तराध्ययन, आवश्यक आदि चार मूल-सूत्र; चतुःशरण, आतुर-प्रत्याख्यान आदि दश प्रकीर्णक, तथा अनुयोगद्वार और नन्दी ये दो चूलिका-सूत्र भी सम्मिलित हो गये, जिससे समस्त अर्द्धमागधी आगम-ग्रन्थों की संख्या 45 हो गयी जिसे श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा धार्मिक मान्यता प्राप्त है। यह समस्त साहित्य अपनी भाषा व शैली तथा दार्शनिक व ऐतिहासिक सामग्री के लिए पालि साहित्य के समान ही महत्वपूर्ण है[1]।

1. समवायांग सूत्र 211-227। षट्खण्डागम 1, 1, 2; टीका भाग 1, पृष्ठ 96 आदि। विन्टरनिट्ज : इंडियन लिटरेचर भाग 2 (जैन लिटरेचर)। कापड़िया : हिस्ट्री ऑफ दि जैन केनानिकल लिटरेचर। जगदीशचन्द्र : प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 33 आदि। हीरालाल जैन : भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृष्ठ 55, आदि। नेमिचन्द्र शास्त्री : प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ 157, आदि।

7. महावीर-निर्वाण-काल

भगवान् महावीर का निर्वाण कब हुआ, इसके सम्बन्ध में यह तो स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है कि यह घटना कार्तिक कृष्णपक्ष चतुर्दशी रात्रि के अन्तिम चरण में अर्थात् अमावस्या के प्रात:काल से पूर्व घटित हुई और उनके निर्वाणोत्सव को देवों तथा मनुष्यों ने दीपावली के रूप में मनाया। तभी से आज तक कार्तिक की दीपावली से उनका निर्वाण संवत् माना जाता है। नवम्बर, 1974 ई. को पूरे 2500 वर्ष हो गये थे। अतः इस अवसर पर पूरे भारत में तथा विदेशों में भी निर्वाण महोत्सव पूर्व मनाया गया था। वैसे इस संवत्सर का प्रचलन अपेक्षाकृत बहुत प्राचीन नहीं है, और फिर महावीर के समय में तथा उसके दीर्घकालीन पश्चात् तक किसी सन्-संवत् के उल्लेख का प्रचार भी नहीं था। पश्चात्कालीन ग्रन्थों में जो कालसम्बन्धी उल्लेख पाये जाते हैं, उनमें कहीं-कहीं परस्पर कुछ विरोध पाया जाता है और कहीं अन्य साहित्यिक उल्लेखों तथा ऐतिहासिक घटनाओं से मेल नहीं खाता। इससे निर्वाण काल के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों के बीच बहुत-सा मतभेद उत्पन्न हो गया है। एक ओर जर्मन विद्वान् डॉ. याकोबी ने महावीर-निर्वाण का समय ई. पू. 477 (चार सौ सतहत्तर) माना है। इसका आधार यह है कि मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक ई. पू. 322 (तीन सौ बाईस) में हुआ और हेमचन्द्र-कृत 'परिशिष्ट पर्व' (8-339) के अनुसार यह अभिषेक महावीर के निर्वाण से 155 (एक सौ पचपन) वर्ष पश्चात् हुआ था। इस प्रकार महावीर निर्वाण 322+155=477 वर्ष पूर्व सिद्ध हुआ। किन्तु दूसरी ओर डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल का मत है कि बौद्धों की सिंहल-देशीय परम्परा में बुद्ध का निर्वाण ई. पू. 544 माना गया है। तथा 'मज्झिमनिकाय' के सामगाम सूक्त में व त्रिपिटक में अन्यत्र भी इस बात का उल्लेख है कि भगवान बुद्ध को अपने एक अनुयायी द्वारा यह समाचार मिला था कि पावा में महावीर का निर्वाण हो गया। ऐसी भी धारणा रही है कि इसके दो वर्ष पश्चात् बुद्ध का निर्वाण हुआ। अतएव यह सिद्ध हुआ कि महावीर-निर्वाण का काल ई. पू. 546 है। किन्तु विचार करने से ये दोनों अभिमत प्रमाणित नहीं होते। जैन साहित्यिक तथा ऐतिहासिक एक शुद्ध और प्राचीन परम्परा है जो वीर-निर्वाण को विक्रम संवत् से 470 (चार सौ सत्तर) वर्ष पूर्व तथा शक संवत् से 605 (छह सौ पाँच) वर्ष पूर्व हुआ मानती है। इस परम्परा का ऐतिहासिक क्रम इस प्रकार है : जिस रात्रि को वीर भगवान् का निर्वाण हुआ उसी रात्रि को उज्जैन के पालक राजा का अभिषेक हुआ। पालक ने 60 वर्ष राज्य किया। तत्पश्चात् नन्दवंशीय राजाओं ने 155 वर्ष, मौर्यवंश ने 108 वर्ष, पुष्यमित्र ने 30 वर्ष, बलमित्र और भानुमित्र ने 60 वर्ष, नहपान (नहवान, नरवाहन या नहसेन) ने 40 वर्ष, गर्दभिल्ल ने 13 वर्ष और एक राजा ने 4 वर्ष राज्य किया, और तत्पश्चात् विक्रम-काल प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार वीरनिर्वाण से 60+155+108+30+60+40+13+4=470 वर्ष विक्रम संवत् के प्रारम्भ

तक सिद्ध हुए। डॉ. याकोबी ने हेमचन्द्र आचार्य के जिस मत के आधार पर वीर-निर्वाण और चन्द्रगुप्त मौर्य के बीच 155 वर्ष का अन्तर माना है, वह वस्तुतः ठीक नहीं है। डॉ. याकोबी ने हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व का सम्पादन किया है और उन्होंने अपना यह मत भी प्रकट किया है कि उक्त कृति की रचना में शीघ्रता के कारण अनेक भूलें रह गयी हैं। इन भूलों में एक यह भी है कि वीर-निर्वाण और चन्द्रगुप्त का काल अंकित करते समय वे पालक राजा का 60 वर्ष का काल भूल गये, जिसे जोड़ने से वह अन्तर 155 वर्ष का हो जाता है। इस भूल का प्रमाण स्वयं हेमचन्द्र द्वारा उल्लिखित राजा कुमारपाल के काल में पाया जाता है। उनके द्वारा रचित 'त्रिषष्टि-शलाका-पुरुष-चरित्र' (पर्व 10, सर्ग 12, श्लोक 45-46) में कहा गया है कि वीर निर्वाण से 1669 वर्ष पश्चात् कुमारपाल राजा हुए। अन्य प्रमाणों से सिद्ध है कि कुमारपाल का राज्याभिषेक 1142 ई. में हुआ था। अतएव इस के अनुसार वीर-निर्वाण का काल 1669—1142=527 ई. पू. सिद्ध हुआ।

डॉ. जायसवाल ने जो बुद्ध-निर्वाण का काल सिंहलीय परम्परा के आधार से ई पू. 544 मान लिया है, वह भी अन्य प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता। उससे अधिक प्राचीन सिंहलीय परम्परा के अनुसार मौर्य सम्राट् अशोक का राज्याभिषेक बुद्ध-निर्वाण से 218 वर्ष पश्चात् हुआ था। अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है कि अशोक का अभिषेक ई. पू. 269 वर्ष में अथवा उसके लगभग हुआ था। अतएव बुद्ध-निर्वाण का काल 218+269=487 ई. पू. सिद्ध हुआ। इसकी पुष्टि एक चीनी परम्परा से भी होती है। चीन के कैन्टन नामक नगर में बुद्ध-निर्वाण के वर्ष का स्मरण बिन्दुओं द्वारा सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है। प्रति वर्ष एक बिन्दु जोड़ दिया जाता था। इन बिन्दुओं की संख्या निरन्तर ई. सन् 489 तक चलती रही और तब तक के बिन्दुओं की संख्या 975 पायी जाती है। इसके अनुसार बुद्ध-निर्वाण का काल 975—489=486 ई. पू. सिद्ध हुआ। इस प्रकार सिंहल और चीनी परम्परा में पूरा सामंजस्य पाया जाता है। अतएव बुद्ध-निर्वाण का यही काल स्वीकार करने योग्य है।

स्वयं पालि त्रिपिटक में इस बात के प्रचुर प्रमाण पाये जाते हैं कि महावीर आयु में और तपस्या में बुद्ध से ज्येष्ठ थे, और उनका निर्वाण भी बुद्ध के जीवन-काल में ही हो गया था। 'दीघनिकाय' के श्रामण्य-फल-सुत्त, संयुत्त-निकाय के दहर-सुत्त तथा 'सुत्त-निपात' के सभिय-सुत्त में बुद्ध से पूर्ववर्ती छह तीर्थकों का उल्लेख आया है। उनके नाम हैं—पूरण कश्यप, मक्खलि गोशाल, निगंठ नातपुत्त (महावीर), संजय वेलट्ठिपुत्त, प्रबुद्ध कच्चायन और अजितकेश कंबलि। इन सभी को बहुत लोगों द्वारा सम्मानित, अनुभवी, चिरप्रव्रजित व वयोवृद्ध कहा गया है, किन्तु बुद्ध को ये विशेषण नहीं लगाये गये। इसके विपरीत उन्हें उक्त छह की अपेक्षा जन्म से अल्प-वयस्क व प्रव्रज्या में नया कहा गया है। इससे सिद्ध है कि महावीर बुद्ध से ज्येष्ठ थे और उनसे पहले ही प्रव्रजित हो चुके थे।

'मज्झिमनिकाय' के साम-गाम-सुत्त में वर्णन आया है कि जब भगवान् बुद्ध साम-गाम में विहार कर रहे थे, तब उनके पास चुन्द नामक श्रमणोद्देश आया और उन्हें यह सन्देश दिया कि अभी-अभी पावा में निगंठ नातपुत्त (महावीर) की मृत्यु हुई है, और उनके अनुयायियों में कलह उत्पन्न हो गया है। बुद्ध के पट्ट शिष्य आनन्द को इस समाचार से सन्देह उत्पन्न हुआ कि कहीं बुद्ध भगवान् के पश्चात् उनके संघ में भी ऐसा ही विवाद उत्पन्न न हो जाये। अपने इस संदेह की चर्चा उन्होंने बुद्ध भगवान् से भी की। यही वृत्तान्त 'दीघ-निकाय' के पासादिक-सुत्त में भी पाया जाता है। इसी निकाय के संगीतिपरियाय-सुत्त में भी बुद्ध के संघ में महावीर-निर्वाण का वही समाचार पहुँचता है और उस पर बुद्ध के शिष्य सारिपुत्त ने भिक्षुओं को आमन्त्रित कर वह समाचार सुनाया तथा भगवान् बुद्ध के निर्वाण होने पर विवाद की स्थिति उत्पन्न न होने देने के लिए उन्हें सतर्क किया। इस पर स्वयं बुद्ध ने कहा—साधु, साधु सारिपुत्र, तुमने भिक्षुओं को अच्छा उपदेश दिया। ये प्रकरण निस्सन्देह रूप से प्रमाणित करते हैं कि महावीर का निर्वाण बुद्ध के जीवन-काल में ही हो गया था। यही नहीं, किन्तु इससे उनके अनुयायियों में कुछ विवाद भी उत्पन्न हुआ था, जिसके समाचार से बुद्ध के संघ में कुछ चिन्ता भी उत्पन्न हुई थी, और उसके समाधान का भी प्रयत्न किया गया था। इस प्रकार बुद्ध से महावीर की वरिष्ठता और पूर्व-निर्वाण निस्सन्देह रूप से सिद्ध हो जाता है और उन दोनों की उक्त पम्परागत निर्वाण-तिथियों से भी मेल बैठ जाता है।[1]

8. महावीर-जन्मस्थान

पुष्पदन्तकृत 'महापुराण' (संधि 95, कडवक 6-7) में कहा गया है कि जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में स्थित कुण्डपुर के राजा सिद्धार्थ और रानी प्रियकारिणी के चौबीसवें तीर्थंकर जिनेन्द्र महावीर का जन्म होगा। इस पर से इतना तो स्पष्ट हो गया कि भगवान् का जन्म-स्थान कुण्डपुर था। किन्तु वहाँ उसके भारत में स्थित होने के अतिरिक्त और अन्य कोई प्रदेश आदि की सूचना नहीं दी गयी। तथापि अन्य ऐसे उल्लेख प्राप्त हैं, जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि यह कुण्डपुर विदेह प्रदेश में स्थित था। उदाहरणार्थ, पूज्यपाद स्वामी कृत 'निर्वाण-भक्ति' में कहा गया है कि :

सिद्धार्थनृपतितनयो भारतवास्ये विदेहकुण्डपुरे।

---

1. महावीर और बुद्ध के निर्वाण-काल सम्बन्धी उल्लेखों व ऊहापोह के लिए देखिए, विन्टरनिट्ज : हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर भाग 2, अपेण्डिक्स 1 बुद्ध-निर्वाण व अपेण्डिक्स 6, महावीर-निर्वाण। मुनि नगराजः आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन, पृष्ठ 47-128।

अर्थात् राजा सिद्धार्थ के पुत्र महावीर का जन्म भारतवर्ष के विदेह प्रदेश में स्थित कुण्डपुर में हुआ। इसी प्रकार जिनसेन कृत 'हरिवंश पुराण' (सर्ग 2, श्लोक 1 से 5) में कहा गया है कि :

अथ देशोऽस्ति विस्तारी जम्बूद्वीपस्य भारते।
विदेह इति विख्यातः स्वर्गखण्डसमः श्रिया ॥
तत्राखण्डलनेत्रालीपद्मिनीखण्डमण्डनम्।
सुखाम्भः कुण्डमाभाति नाम्ना कुण्डपुरं पुरम् ॥

अर्थात् जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में विशाल, विख्यात व समृद्धि में स्वर्ग के समान जो विदेह देश है, उसमें कुण्डपुर नाम का नगर ऐसा शोभायमान दिखायी देता है मानो वह सुखरूपी जल का कुण्ड ही हो, तथा जो इन्द्र के सहस्र नेत्रों की पंक्तिरूपी कमलनी-खण्ड से मण्डित है। गुणभद्रकृत 'उत्तरपुराण' (पर्व 74, श्लोक 251-52) में भी पाया जाता है कि :

भरतेऽस्मिन्विदेहाख्ये विषये भवनाङ्गणे।
राज्ञः कुण्डपुरेशस्य वसुधारापतत्पृथुः ॥

अर्थात् इसी भरत क्षेत्र के विदेह नामक देश में कुण्डपुर-नरेश के प्रासाद के प्रांगण में विशाल धन की धारा बरसी।

अर्द्धमागधी आगम के आचाराङ्ग सूत्र (2, 15) तथा कल्पसूत्र (110) में भी कहा गया है कि :

समणे भगवं महावीरे णाए णायपुत्ते णायकुलणिव्वत्ते विदेहे विदेहदित्ते विदेहजच्चे विदेहसूमाले तीसं वासाइं विदेहंसि कट्टु अगारमज्झे वसित्ता।

अर्थात् ज्ञातृ, ज्ञातृ-पुत्र, ज्ञातृकुलोत्पन्न, वैदेह, विदेहदत्त, विदेहजात्य, विदेह-सुकुमार, श्रमण भगवान् महावीर 30 वर्ष विदेहदेश के ही गृह में निवास करके प्रव्रजित हुए।

और भी अनेक अवतरण दिये जा सकते हैं, किन्तु इतने ही उल्लेखों से यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि भगवान् महावीर की जन्मनगरी का नाम कुण्डपुर था, और वह कुण्डपुर विदेह प्रदेश में स्थित था। सौभाग्य से विदेह की सीमा के सम्बन्ध में कहीं कोई विवाद नहीं है। प्राचीनतम काल से बिहार राज्य का गंगा से उत्तर का भाग विदेह और दक्षिण का भाग मगध नाम से प्रसिद्ध रहा है। इसी विदेह प्रदेश को तीर भुक्ति नाम से भी उल्लिखित किया गया है, जिसका वर्तमान रूप तिरहुत अब भी प्रचलित है। पुराणों में इसकी सीमाएँ इस प्रकार निर्दिष्ट की गयी हैं–

गङ्गा-हिमवतोर्मध्ये नदीपञ्चदशान्तरे।
तीरभुक्तिरिति ख्यातो देशः परम-पावनः॥
कौशिकीं तु समारभ्य गण्डकीमधिगम्य वै।
योजनानि चतुर्विंशद् व्यायामः परिकीर्तितः॥
गङ्गाप्रवाहमारभ्य यावद् हैमवन्त वरम्।
विस्तारः षोडशं प्रोक्तो देशस्य कुलनन्दनः॥

इस प्रकार विदेह अर्थात् तीरभुक्ति (तिरहुत) प्रदेश की सीमाएँ सुनिश्चित हैं। इसके उत्तर में हिमालय पर्वत और दक्षिण में गंगा नदी, पूर्व में कौशिकी और पश्चिम में गण्डकी नामक नदियाँ हैं। किन्तु विदेह की ये सीमाएँ भी एक विशाल क्षेत्र को सूचित करती हैं और अब हमारे लिए यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस प्रदेश में कुण्डपुर को कहाँ रखा जाये ? इसके निर्णय के लिए हमारा ध्यान महावीर के ज्ञातृकुलोत्पन्न, ज्ञातृपुत्र आदि विशेषणों की ओर आकृष्ट होता है। ये ज्ञातृ क्षत्रियवंशी कहाँ रहते थे, इसका संकेत हमें बौद्ध साहित्य के एक अतिप्राचीन ग्रन्थ 'महावस्तु' में प्राप्त होता है। वहाँ प्रसंग यह है कि बुद्ध भगवान् गंगा को पार कर वैशाली की ओर जा रहे हैं और उनके स्वागत के लिए वैशाली संघ के लिच्छवी आदि अनेक क्षत्रियगण शोभायात्रा बनाकर उनके स्वागतार्थ आते हैं। इसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि–

स्फीतानि राज्यानि प्रशास्यमाना
सम्यग् राज्यानि करोन्ति ज्ञातयः॥
तथा इमे लेच्छविमध्ये सन्तो
देवेहि शास्ता उपमामकासि॥

अर्थात् ये जो क्षत्रियगण भगवान् के स्वागत के लिए आ रहे हैं, उनमें जो ज्ञातृ नामक क्षत्रियगण हैं वे अपने विशाल राज्य का शासन भले प्रकार से करते हैं और वे लिच्छवि गण के क्षत्रियों के बीच ऐसे प्रतिष्ठित और शोभायमान दिखायी देते हैं कि स्वयं शास्ता अर्थात् स्वयं भगवान् बुद्ध ने उनकी उपमा देवों से की है। इस उल्लेख से एक तो यह बात सिद्ध हो जाती है कि ज्ञातृकुल के क्षत्रियों का निवासस्थान वैशाली ही था, और दूसरे वे लिच्छविगण में विशेष सम्मान का स्थान रखते थे। इसका कारण भी स्पष्ट है। ज्ञातृकों के कुल की प्रतिष्ठा इस कारण और भी बढ़ गयी प्रतीत होती है, क्योंकि उनके गणनायक सिद्धार्थ वैशाली गण के नायक राजा चेटक के जामाता थे। चेटक की कन्या (या भगिनी) प्रियकारिणी त्रिशला का विवाह ज्ञातृकुल-श्रेष्ठ राजा सिद्धार्थ से हुआ था। भगवान् महावीर को वैशाली से सम्बद्ध करने वाला एक और पुष्ट प्रमाण उपलब्ध है। अर्द्धमागधी आगमों में (सूत्रकृतांग 1, 2; उत्तराध्ययन 6 आदि) अनेक स्थानों पर भगवान्

महावीर को वेसालीय–वैशालिक कहा गया है। यद्यपि कुछ टीकाकारों ने 'वैशालिक' का विशाल व्यक्तित्वशील, विशाल माता के पुत्र आदि रूप से विविध प्रकार अर्थ किये हैं, तथापि वे सन्तोषजनक नहीं हैं। 'वैशालिक' का यही स्पष्ट अर्थ समझने में आता है कि वैशाली नगर के नागरिक थे। आगम में अनेक स्थानों पर वैशाली श्रावकों का भी उल्लेख आता है। भगवान् ऋषभदेव कौशल देश के थे, अतएव उन्हें 'अरहा कोसलीये' अर्थात् कौशल देश के अरहन्त कहकर भी सम्बोधित किया गया है (समवायांग सूत्र 141, 162)। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि महावीर वैशाली नगर में ही उत्पन्न हुए थे और कुण्डपुर उसी विशाल नगर का एक भाग रहा होगा।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि वैशाली की स्थिति कहाँ थी ? इसका स्पष्ट उत्तर वाल्मीकि कृत रामायण (1,45) में पाया जाता है। राम और लक्ष्मण विश्वामित्र मुनि के साथ मिथिला में राजा जनक द्वारा आयोजित धनुर्यज्ञ में जा रहे हैं। जब वे गंगा-तट पर पहुँचे, तब मुनि ने उन्हें गंगा-अवतरण का आख्यान सुनाया। तत्पश्चात् उन्होंने गंगा पार की और वे उसके उत्तरीय तट पर जा पहुँचे। वहाँ से उन्होंने विशालपुरी को देखा–

उत्तरं तीरमासाद्य संपूज्यर्षिगणं तदाः।
गङ्गाकूले निविष्टास्ते विशालां ददृशुः पुरीम् ॥

और वे शीघ्र ही उस रम्य, दिव्य तथा स्वर्गोपम नगरी में जा पहुँचे–

ततो मुनिवरस्तूर्णं जगाम सह राघवः।
विशालां नगरीं रम्यां दिव्यां स्वर्गोपमां तदा ॥

(रामा. 1, 45, 9-10)

यहाँ उन्होंने एक रात्रि निवास किया और दूसरे दिन वहाँ से चल कर वे जनकपुरी मिथिला में पहुँचे–

उष्य तत्र निशामेकां जग्मतुर्मिथिलां ततः ॥ (रामा. 1, 48, 9)

बौद्ध ग्रन्थों में भी वैशाली के अनेक उल्लेख आये हैं और वहाँ भी स्पष्टतः कहा गया पाया जाता है कि बुद्ध भगवान् गंगा को पार कर उत्तर की ओर वैशाली में पहुँचे। वैशाली में उस समय लिच्छवि संघ का राज्य था तथा गंगा के दक्षिण में मगध-नरेश श्रेणिक बिम्बसार और उनके पश्चात् कुणिक अजातशत्रु का एकछत्र राज्य था। इन दोनों राज्यतन्त्रों में मौलिक भेद था और उनमें शत्रुता भी बढ़ गयी थी। बौद्ध ग्रन्थों में उल्लेख है (दीघनिकाय-महापरिणिव्वाण सुत्त) कि अजातशत्रु के मन्त्री वर्षकार ने बुद्ध से पूछा था कि क्या वे वैशाली के लिच्छवि संघ पर विजय प्राप्त कर सकते हैं ? इसके उत्तर में बुद्ध ने उन्हें यह सूचित किया था कि जब तक लिच्छवि गण के लोग अपनी गणतन्त्रीय

व्यवस्था को सुसंगठित हो एकमत से समर्थन दे रहे हैं, न्यायनीति का पालन करते हैं और सदाचार के नियमों का उल्लंघन नहीं करते, तब तक उन्हें कोई पराजित नहीं कर सकता। यह बात जानकर वर्षकार मन्त्री ने कूटनीति से लिच्छवियों के बीच फूट डाली और उन्हें न्यायनीति से भ्रष्ट किया। इसका जो परिणाम हुआ उसका विशद वर्णन अर्द्धमागधी आगम के 'भगवती-सूत्र' के सप्तम शतक में पाया जाता है। इसके अनुसार अजातशत्रु की सेना ने वैशाली पर आक्रमण किया। युद्ध में महाशिलकंटक और रथमुसल नामक युद्ध-यन्त्रों का उपयोग किया गया। अन्त में वैशाली का प्राकार भंग हो गया और अजातशत्रु की विजय हो गयी। तात्पर्य यह है कि महावीर के काल में वैशाली की बड़ी प्रतिष्ठा थी और उस नगरी का नागरिक होना एक गौरव की बात मानी जाती थी। इसीलिए महावीर को वैशालीय कहकर भी सम्बोधित किया गया है। अनेक प्राचीन नगरों के साथ इस वैशाली का भी दीर्घकाल तक इतिहासज्ञों को अता-पता नहीं था। किन्तु विगत एक शताब्दी में जो पुरातत्त्व सम्बन्धी खोज-शोध हुई है, उससे प्राचीन भग्नावशेषों, मुद्राओं व शिलालेखों आदि के आधार से प्राचीन वैशाली की ठीक स्थिति अवगत हो गयी है और निस्सन्देह रूप से प्रमाणित हो गया है कि बिहार राज्य में गंगा के उत्तर में मुजफ्फरपुर जिले के अन्तर्गत बसाढ़ नामक ग्राम ही प्राचीन वैशाली है। स्थानीय खोज-शोध से यह भी माना गया है कि वर्तमान बसाढ़ के समीप ही जो वासुकुण्ड नामक ग्राम है, वहीं प्राचीन कुण्डपुर होना चाहिए। वहाँ एक प्राचीन कुण्ड के चिह्न पाये जाते हैं जो क्षत्रियकुण्ड कहलाता रहा होगा। उसी के समीप एक ऐसा भी भूमिखण्ड पाया गया जो 'अहल्य' माना जाता रहा है। उस पर कभी हल नहीं चलाया गया, तथा स्थानीय जनता की धारणा रही है कि वह एक अति-प्राचीन महापुरुष का जन्मस्थान था। इसलिए उसे पवित्र मानकर लोग वहाँ दीपावली को अर्थात् महावीर के निर्वाण के दिन दीपक जलाया करते हैं। इन सब बातों पर समुचित विचार करके विद्वानों ने उसी स्थल को महावीर की जन्मभूमि स्वीकार किया और बिहार सरकार ने भी इसी आधार पर उस स्थल को अपने अधिकार में लेकर उसका घेरा बना दिया है और वहाँ एक कमलाकार वेदिका बनाकर वहाँ एक संगमरमर का शिलापट्ट स्थापित कर दिया है। उस पर अर्द्धमागधी भाषा में आठ गाथाओं का लेख हिन्दी अनुवाद सहित भी अंकित कर दिया गया है, जिसमें वर्णन है कि यह वह स्थल है जहाँ भगवान् महावीर का जन्म हुआ था और जहाँ से वे अपने 30 वर्ष के कुमारकाल को पूरा कर प्रव्रजित हुए थे। शिलालेख में यह भी उल्लेख है कि भगवान् के जन्म से 2555 वर्ष व्यतीत होने पर विक्रम सम्वत् 2012 वर्ष में भारत के राष्ट्रपति श्री राजेन्द्रप्रसाद ने वहाँ आकर उस स्मारक का उद्घाटन किया।

महावीर स्मारक के समीप ही तथा पूर्वोक्त प्राचीन क्षत्रिय-कुण्ड की तटवर्ती भूमि पर साहू शान्तिप्रसाद जैन के दान से एक भव्य भवन का निर्माण भी करा दिया गया है

और वहाँ बिहार राज्य शासन द्वारा 'प्राकृत जैन शोध-संस्थान' भी चलाया जा रहा है। यह संस्थान सन् 1956 में डॉ. हीरालाल जैन के निर्देशकत्व में मुजफ्फरपुर में प्रारम्भ किया गया था। उन्हीं के द्वारा वैशाली में महावीर स्मारक स्थापित कराया गया तथा शोध-संस्थान के भवन का निर्माण कार्य प्रारम्भ कराया गया।

वैशाली की स्थिति का यह जो निर्णय किया गया उसमें एक शंका रह जाती है। कुछ धर्म-बन्धुओं को यह बात खटकती है कि कहीं-कहीं वैशाली की स्थिति विदेह में नहीं, किन्तु सिन्धु देश में कही गयी है। पुष्पदन्त कृत 'महापुराणु' (संधि 98 कडवक 9) में भी कहा पाया जाता है कि–

सिंधु-वसइ वइसाली-पुरवरि।

तथा संस्कृत उत्तर-पुराण (75, 3) में भी कहा गया है–

सिन्वाख्यविषये भूभृद्वैशालीनगरेऽभवत्।
चेटकाख्योऽतिविख्यातो विनीतः परमार्हतः॥

इन दोनों स्थानों पर सिन्धु विषय व सिन्ध्वाख्यविषयें का तात्पर्य सिन्ध देश से लगाया जाना स्वाभाविक ही है। किन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट है कि वर्तमान सिन्धदेश में न तो किसी वैशाली नामक नगरी का कहीं कोई उल्लेख पाया गया है और न उसकी पूर्वोक्त समस्त ऐतिहासिक उल्लेख और घटनाओं से सुसंगति बैठ सकती है। वैशाली की स्थिति में अब कहीं किसी विद्वान् को संशय नहीं रहा है। इस विषय पर मैंने जो विचार किया है, उससे मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि उत्तर-पुराण में जो 'सिन्ध्वाख्यविषये' पाठ है, वह किसी लिपिकार के प्रमाद का परिणाम है। यथार्थतः वह पाठ होना चाहिये 'सिन्ध्वाढ्य-विषये' जिसका अर्थ होगा–वह प्रदेश जहाँ नदियों का बाहुल्य है। तिरहुत प्रदेश का यह विशेषण पूर्णतः सार्थक है। इस प्रदेश का उल्लेख 'शंकरदिग्विजय' नामक ग्रन्थ में भी आया है, और वहाँ उसे उदकदेश कहा गया है। तीरभुक्ति नाम की भी यही सार्थकता है कि समस्त प्रदेश प्रायः नदियों और उसके तटवर्ती क्षेत्रों में बटा हुआ है। ऊपर जो तीरभुक्ति सम्बन्धी एक उल्लेख उद्धृत किया गया है, उसमें इस प्रदेश को 'नदी-पञ्चदशान्तरे' कहा गया है, अर्थात् पन्द्रह नदियों में बंटा हुआ प्रदेश। वहाँ नदियों की बहुलता तथा समय-समय पर पूरे प्रदेश का जल-प्लावन आज भी देखा-सुना जाता है। अतः पूर्वोक्त दोनों उल्लेखों से किसी अन्य सिन्धु देश का नहीं, किन्तु इसी सिन्धुबहुल, उदकदेश या तीरभुक्ति से अभिप्राय है।

अब इस विषय में एक प्रश्न फिर भी शेष रह जाता है। इधर दीर्घकाल से महावीर स्वामी का जन्म-स्थान बिहार के पटना जिले में नालन्दा के समीप कुण्डलपुर माना जाता है। वहाँ एक विशाल मन्दिर भी है और वह भगवान् के जन्मकल्याणक स्थान

के रूप में एक तीर्थ माना जाता है। इसी श्रद्धा से वहाँ सहस्रों यात्री तीर्थयात्रा करते हैं। उसी प्रकार श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा भगवान् का जन्मस्थान मुंगेर जिले के लच्छुआड़ नामक ग्राम के समीप क्षत्रिय-कुण्ड को माना गया है। किन्तु ये दोनों स्थान गंगा के उत्तर विदेह देश में न होकर गंगा के दक्षिण में मगध देश के अन्तर्गत हैं और इस कारण दोनों ही सम्प्रदायों के प्राचीनतम स्पष्ट ग्रन्थोल्लेखों के विरुद्ध पड़ते हैं। यथार्थतः इस विषय में याकोबी आदि उन विदेशी विद्वानों ने सन्देह प्रकट किया, जिन्होंने इस विषय पर निष्पक्षतापूर्वक शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया था, और उन्हीं की खोज-शोधों द्वारा वैशाली तथा कुण्डपुर की वास्तविक स्थिति का पता चला। ये जो दो स्थान वर्तमान में जन्मस्थल माने जा रहे हैं, उनकी परम्परा वस्तुतः बहुत प्राचीन नहीं है। विचार करने से ज्ञात होता है कि विदेह और मगध प्रदेशों में जैनधर्म के अनुयायियों की संख्या महावीर के काल से लगभग बारह सौ वर्ष तक तो बहुत रही। सातवीं शताब्दी में हर्षवर्धन के काल में जो चीनी यात्री हुयेनत्सांग भारत में आया था, उसने समस्त बौद्ध तीर्थों की यात्रा करने का प्रयत्न किया था। वह वैशाली भी गया था जिसके विषय में उसने अपनी यात्रा के वर्णन में स्पष्ट लिखा है कि वहाँ बौद्ध धर्मानुयायियों की अपेक्षा निर्ग्रन्थों अर्थात् जैनियों की संख्या अधिक है। किन्तु इसके पश्चात् स्थिति में बड़ा अन्तर पड़ा प्रतीत होता है, और अनेक कारणों से यहाँ प्रायः जैनियों का अभाव हो गया। इसके अनेक शताब्दी पश्चात् सम्भवतः मुगलकाल में व्यापार की दृष्टि से पुनः जैनी वहाँ जाकर बसे और उन्होंने पुरातत्व व ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर नहीं, किन्तु केवल नाम-साम्य तथा भ्रान्त जनश्रुतियों के आधार से कुण्डलपुर व लच्छुआड़ में भगवान् के जन्मस्थान की कल्पना कर ली। अब उक्त दोनों स्थान वहाँ के मन्दिरों के निर्माण, मूर्तियों की प्रतिष्ठा तथा सैकड़ों वर्षों से जनता की श्रद्धा एवं तीर्थयात्रा के द्वारा तीर्थस्थल बन गये हैं और बने रहेंगे। किन्तु जब हमने यह जान लिया कि भगवान् का वास्तविक जन्म-स्थान वैशाली व कुण्डपुर है, उसे समस्त भारतीय व विदेशी विद्वानों ने एकमत से स्वीकार किया है तथा बिहार शासन द्वारा भी उसे मान्यता प्रदान कर वहाँ महावीर-स्मारक और शोध-संस्थान की स्थापना भी की है, तब समस्त जैन समाज को इस स्थान की उपेक्षा नहीं करना चाहिए और अपना पूरा योगदान देकर उसे उसके ऐतिहासिक महत्त्व के अनुरूप गौरवशाली बनाना चाहिए।[1]

---

1. हॉर्नले : उपासक-दशा, प्रस्तावना व टिप्पण। केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृष्ठ 140। भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ. 22 आदि।

9. महावीर-तप-कल्याणक क्षेत्र

भगवान् ने तपश्चरण कहाँ आरम्भ किया था, इसका उल्लेख पुष्पदन्त कृत 'महापुराणु' (संधि 96 कडवक 11) में इस प्रकार पाया जाता है :

चंदप्पह-सिवियहि पहु चडिण्णु ।
तहिँ णाहसंड-वणि णवर दिण्णु ॥
मग्गसिर-कसण-दसमी-दिणंति ।
संजायइ तियसुच्छवि महंति ॥
वोलीणइ चरियावरण-पंकि ।
हत्थुत्तर-मज्झासिइ ससंकि ॥
छट्ठोववासु किउ मलहरेण ।
तवचरणु लइउ परमेसरेण ॥

इसी प्रकार संस्कृत उत्तरपुराण (74, 302-304) में भगवान् के तपग्रहण का उल्लेख इस प्रकार पाया जाता है।

नाथः (नाथ) षण्डवनं प्राप्य स्वयानादवरुह्य सः ।
श्रेष्ठः षष्ठोपवासेन स्वप्रभापटलावृते ॥
निविश्योदङ्मुखो वीरो रुन्द्ररत्नशिलातले ।
दशम्यां मार्गशीर्षस्य कृष्णायां शशिनि श्रिते ॥
हस्तोत्तरर्क्षयोर्मध्यं भागं चापास्तलक्ष्मणि ।
दिवसावसितौ धीरः संयमाभिमुखोऽभवत् ॥

'हरिवंशपुराण' (2, 50-52) के अनुसार :

सौधर्माद्यैः सुरैरेत्य कृताभिषवपूजनः ।
आरुह्य शिविकां दिव्यामुह्यमानां सुरेश्वरैः ॥
उत्तराफाल्गुनीष्वेव वर्तमाने निशाकरे ।
कृष्णस्य मार्गशीर्षस्य दशम्यामगमद्वनम् ॥
अपनीय तनोः सर्वं वस्त्रमाल्यविभूषणम् ।
पञ्चमुष्टिभिरुद्धृत्य मूर्धजानभवन्मुनिः ॥

इन तीनों उल्लेखों का अभिप्राय यह है कि नाथ, नाध, नाय अथवा ज्ञातृवंशीय भगवान् महावीर ने मार्गशीर्ष कृष्णा 10वीं के दिन षण्डवन में जाकर तपश्चरण प्रारम्भ किया और वे मुनि हो गये। यथार्थतः अर्द्धमागधी ग्रन्थों, जैसे कल्पसूत्रादि में इसे 'णाय-संडवन' अर्थात् ज्ञातृ क्षत्रियों के हिस्से का वन कहा गया है और मेरे मतानुसार

उत्तरपुराण में भी मूलतः पाठ, 'नाथ-षण्डवन' व अपभ्रंश में, 'णाहसंडवण' रहा है जिसे अज्ञानवश लिपिकारों ने अपनी दृष्टि से सुधार दिया है। अतः भगवान् की तपोभूमि ज्ञातृवंशी क्षत्रियों के निवास वैशाली व कुण्डपुर का समीपवर्ती उपवन ही सिद्ध होता है।

10. भगवान् का केवलज्ञान-क्षेत्र

भगवान् को केवलज्ञान कहाँ उत्पन्न हुआ, इसका उल्लेख पुष्पदन्त कृत 'महापुराणु' (संधि 97 कडवक 5-6) में इस प्रकार पाया जाता है—

बारह - संवच्छर - तव - चरणु।
किउ सम्मइणा दुक्किय-हरणु ॥
पोसंतु अहिंस खंति ससहि।
भयवंतु संतु विहरंतु महि ॥
गउ जिम्हिय-गामहु अइ-णियडि।
सुविउलि रिजुकूला-णइहि तडि ॥
घत्ता— मोर-कीर-सारस-सरि उज्जाणम्मि मणोहरि।
सालमूलि रिसिराणउ रयण-सिलहि आसीणउ॥
छट्ठेणुववासें हयदुरिएं।
परिपालिय तेरहविहचरिएँ ॥
वइसाह-मासि सिय-दसमि दिणि।
अवरण्हइ जायइ हिम-किरणि ॥
हत्थुत्तर - मज्झ- समासियइ।
पहु पडिवण्णउ केवलसियइ ॥

अर्थात् भगवान् महावीर ने बारह वर्ष तक तपस्या की, तथा अपनी स्वसा चन्दना के अहिंसा और क्षमा भाव का पोषण किया। विहार करते हुए वे जृम्भिक ग्राम के अतिनिकट ऋजुकूला नदी के तटवर्ती वन में पहुँचे। वहाँ उन्होंने एक साल वृक्ष के नीचे शिलापर ध्यानारूढ़ हो दो उपवास कर वैशाख शुक्ल दशमी के दिन अपराह्न काल में जब चन्द्र उत्तराषाढ़ और हस्त नक्षत्रों के मध्य में था, तब केवलज्ञान प्राप्त किया। यही बात 'उत्तरपुराण' (74, 348 आदि) में इस प्रकार कही गयी है :—

भगवान्वर्धमानोऽपि नीत्वा द्वादशवत्सरान्।
छाद्मस्थ्येन जगद्बन्धुर्जृम्भिकग्रामसन्निधौ ॥
ऋजुकूलानदीतीरे मनोहरवनान्तरे।
महारत्नशिलापट्टे प्रतिमायोगमावसन् ॥

स्थित्वा षष्ठोपवासेन सोऽधस्तात्सालभूरुहः।
वैशाखे मासि सज्योत्स्नदशम्यामपराह्नके ॥
हस्तोत्तरान्तरं याते शशिन्यारूढशुद्धिकः।
क्षपकश्रेणिमारुह्य शुक्लध्यानेन सुस्थितः ॥
घातिकर्माणि निर्मूल्य प्राप्यानन्तचतुष्टयम्।
परमात्मपदं प्रापत्परमेष्ठी स सन्मतिः ॥

यही बात हरिवंशपुराण (2, 56-59) में इस प्रकार कही गयी है :

मनःपर्ययपर्यन्तचतुर्ज्ञानमहेक्षण :।
तपो द्वादशवर्षाणि चकार द्वादशात्मकम् ॥
विहरन्नथ नाथोऽसौ गुणग्रामपरिग्रहः।
ऋजुकूलापगाकूले जृम्भिकग्राममीयिवान् ॥
तत्रातापनयोगस्थः सालाभ्याशशिलातले।
वैशाखशुक्लपक्षस्य दशम्यां षष्ठमाश्रितः ॥
उत्तराफाल्गुनीप्राप्ते शुक्लध्यानी निशाकरे।
निहत्य घातिसंघातं केवलज्ञानमाप्तवान् ॥

इस प्रकार भगवान् महावीर का केवलज्ञान-प्राप्ति रूप कल्याणक जृम्भिक ग्राम के समीप ऋजुकूला नदी के तट पर सम्पन्न हुआ। इस ग्राम का नाम 'आचारांगसूत्र' व 'कल्पसूत्र' में जंभिय तथा नदी का नाम ऋजुवालुका पाया जाता है।

यद्यपि अभी तक इस ग्राम और नदी की स्थिति का निर्णय नहीं हुआ, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं दिखायी देता कि उक्त नदी वही है जो अब भी बिहार में कुयेल या कुएल—कूला नाम से प्रसिद्ध है और उसके तट पर इसी नाम का एक बड़ा रेलवे जंक्शन भी है। उसी के समीप जम्हुई नामक नगर भी है। अतः यही स्थान भगवान् का ज्ञान-प्राप्ति क्षेत्र स्वीकार करके वहाँ समुचित स्मारक बनाया जाना चाहिए।

11. महावीर-देशना-स्थल

केवलज्ञान प्राप्त करके भगवान् राजगृह पहुँचे और उस नगर के समीप विपुलाचल पर्वत पर उनका समवसरण बनाया गया। वहाँ उनकी दिव्यध्वनि खिरी, जिसका समय श्रावण कृष्ण प्रतिपदा कहा गया है। उल्लेख के अनुसार भगवान् का प्रथम उपदेश केवलज्ञान-प्राप्ति से 66 दिन पश्चात् हुआ। यह बात 'हरिवंशपुराण' (2, 61 आदि) में निम्न प्रकार पायी जाती है :

षट्षष्टिदिवसान् भूयो मौनेन विहरन् विभुः।
आजगाम जगत्ख्यातं जिनो राजगृहं पुरम् ॥
आरुरोह गिरिं तत्र विपुलं विपुलश्रियम्।
प्रबोधार्थं स लोकानां भानुमानुदयं यथा ॥
श्रावणस्यासिते पक्षे नक्षत्रेऽभिजिति प्रभुः।
प्रतिपद्यह्निपूर्वाह्ने शासनार्थमुदाहरत् ॥

इस प्रकार बिहार राज्य के अन्तर्गत राजगृह नगर के समीप विपुलाचलगिरि ही वह पवित्र और महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है जहाँ भगवान् महावीर का दिव्य शासन प्रारम्भ हुआ। इस पर्वत पर पहले से ही अनेक जैन-मन्दिर हैं, और कोई 25-30 वर्ष पूर्व यहाँ वीर-शासन स्मारक भी स्थापित किया गया था। तब से वीर-शासन-जयन्ती भी श्रावक कृष्ण प्रतिपदा को मनायी जाती है। तथापि उक्त स्मारक और पवित्र दिन को अभी तक वह देशव्यापी प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हुई जो उनके ऐतिहासिक महत्त्व के अनुरूप हो। इस हेतु प्रयास किये जाने की आवश्यकता है, क्योंकि यही वह स्थल है जहाँ न केवल भगवान् का धर्म-शासन प्रारम्भ हुआ था, किन्तु उस समय के सुप्रसिद्ध वेद-विज्ञाता इन्द्रभूमि गौतम ने आकर भगवान् का नायकत्व स्वीकार किया और वे भगवान् के प्रथम गणधर बने। यहीं उन्होंने भगवान् की दिव्यध्वनि को अंगों और पूर्वों के रूप में विभाजित कर उन्हें ग्रन्थारूढ़ किया। यहीं मगधनरेश श्रेणिक बिम्बसार ने भगवान् का उपदेश सुना और गौतम गणधर से धर्म-चर्चा करके जैन-पुराणों और कथाकारों की रचना की नींव डाली। यहीं श्रेणिक ने ऐसा पुण्यबन्ध किया, जिससे उनका अगले मानव जन्म में महापद्म नामक तीर्थंकर बनना निश्चित हो गया।

12. महावीर-निर्वाण-क्षेत्र

ऋजुकूला नदी के तट पर केवलज्ञान प्राप्त कर तथा विपुलाचल पर अपनी दिव्यध्वनि द्वारा जैन-धर्म का उपदेश देकर भगवान् महावीर ने 30 वर्ष तक देश के विविध भागों में विहार करते हुए धर्म प्रचार किया। तत्पश्चात् वे पावापुर में आये और वहाँ अनेक सरोवरों से युक्त वन में एक विशुद्ध शिला पर विराजमान हुए। दो दिन तक उन्होंने विहार नहीं किया, और शुक्लध्यान में तल्लीन रहकर कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि के अन्तिम भाग में जब चन्द्र स्वाति नक्षत्र में था, तब उन्होंने शरीर परित्याग कर सिद्ध-पद प्राप्त किया। पुष्पदन्त कृत 'महापुराणु' (संधि 102 कडवक 10-11) में यह बात इस प्रकार कही गयी है :

अंततित्थणाहु वि महि विहरिवि।
जणदुरियाइं दुलंघइं पहरिवि ॥

पावापुरवरु पत्तउ मणहरि।
णवतरुपल्लवि वणि बहुसरवरि ॥
संठिउ पविमलरयण-सिलायलि।
रायहंसु णावइ पंकयदलि ॥
दोण्णि दियहँ पविहारु मुएप्पिणु।
सुक्कझाणु तिज्जउ झाएप्पिणु ॥
घत्ता—णिव्वत्तिइ कत्तिइ तमकसणि पक्खि चउद्दसि वासरि।
थिइ ससहरि दुहहरि साइवइ पच्छिमरयणिहि अवसरि ॥
कयतिजोयसुणिरोहु अणिट्ठउ।
किरियाछिण्णइ झाणि परिट्ठिउ ॥
णिहयाघाइचउक्कु अदेहउ।
वसुसमगुणसरीरु णिण्णेहउ ॥
रिसिसहसेण समउ रयछिंदणु।
सिद्धउ जिणु सिद्धत्थहु णंदणु ॥

ठीक यही वृत्तान्त उत्तरपुराण (76, 508 से 512) में इस प्रकार पाया जाता है :

इहान्त्यतीर्थनाथोऽपि विहृत्य विषयान् बहून्।
क्रमात्पावापुरं प्राप्य मनोहरवनान्तरे।
बहूनां सरसां मध्ये महामणिशिलातले ॥
स्थित्वा दिनद्वयं वीतविहारो वृद्धनिर्जरः।
कृष्णकार्तिकपक्षस्य चतुर्दश्यां निशात्यये ॥
स्वातियोगे तृतीयेद्ध-शुक्लध्यानपरायणः।
कृतत्रियोगसंरोधः समुच्छिन्नक्रियं श्रितः ॥
हताघातिचतुष्कः सन्नशरीरो गुणात्मकः।
गन्ता मुनिसहस्रेण निर्वाणं सर्ववाञ्छितम् ॥

इन उल्लेखों पर से स्पष्ट है कि भगवान् महावीर का निर्वाण पावापुर के समीप ऐसे वन में हुआ था जिसमें आस-पास अनेक सरोवर थे। वर्तमान में भगवान् का निर्वाण-क्षेत्र पटना जिले के अन्तर्गत विहार-शरीफ के समीप वह स्थल माना जाता है जहाँ अब एक सरोवर के बीच भव्य जिनमन्दिर बना हुआ है, और इस तीर्थ क्षेत्र की व्यापक मान्यता है। दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदाय एकमत से इसी स्थल को भगवान् की निर्वाण-भूमि स्वीकार करते हैं।

किन्तु इतिहासज्ञ विद्वान् इस स्थान को वास्तविक निर्वाण-भूमि स्वीकार करने में अनेक आपत्तियाँ देखते हैं। 'कल्पसूत्र' तथा 'परिशिष्ट पर्व' के अनुसार जिस पावा में

भगवान् का निर्वाण हुआ था, वह मल्ल नामक क्षत्रियों की राजधानी थी। ये मल्ल वैशाली के वज्जि व लिच्छवि संघ में प्रविष्ट थे, और मगध के एक सत्तात्मक राज्य से उनका वैर था। अतएव गंगा के दक्षिणवर्ती प्रदेश जहाँ वर्तमान पावापुरी क्षेत्र है वहाँ उनके राज्य होने की कोई सम्भावना नहीं है। इसके अतिरिक्त बौद्ध ग्रन्थों जैसे—'दीघ-निकाय,' 'मज्झिम-निकाय' आदि से सिद्ध होता है कि पावा की स्थिति शाक्य प्रदेश में थी और वह वैशाली से पश्चिम की ओर कुशीनगर से केवल दस-बारह मील की दूरी पर था। शाक्यप्रदेश के साम-गाम में जब भगवान् बुद्ध का निवास था, तभी उनके पास सन्देश पहुँचा था कि अभी अर्थात् एक ही दिन के भीतर पावा में भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ है।

इस सम्बन्ध के जो अनेक उल्लेख बौद्ध ग्रन्थों में आये हैं, उनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। इन सब बातों पर विचार कर इतिहासज्ञ इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि जिस पावापुरी के समीप भगवान् का निर्वाण हुआ था, वह यथार्थतः उत्तर-प्रदेश के देवरिया जिले में व कुशीनगर के समीप वह पावा नामक ग्राम है जो आजकल सठियाँव (फाजिलनगर) कहलाता है और जहाँ बहुत-से प्राचीन खण्डहर व भग्नावशेष पाये जाते हैं। अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से इस स्थान को स्वीकार कर उसे भगवान् महावीर की निर्वाण भूमि के योग्य तीर्थक्षेत्र बनाना चाहिए।[1]

13. महावीर समकालीन ऐतिहासिक पुरुष

(क) वैशाली-नरेश चेटक

'महापुराणु' (अपभ्रंश) ग्रन्थ (सन्धि 98) में तथा संस्कृत 'उत्तरपुराण' (पर्व 75) में वैशाली के राजा चेटक का वृत्तान्त आया है। चेटक के विषय में कहा गया है कि वे अति विख्यात, विनीत और परम आर्हत अर्थात् जिनधर्मावलम्बी थे। उनकी रानी का नाम सुभद्रादेवी था। उनके दश पुत्र हुए—धनदत्त, धनभद्र, उपेन्द्र, सुदत्त, सिंहभद्र, कुम्भोज, अकम्पन, पतंगत, प्रभंजन और प्रभास। इसके सिवाय उनके सात पुत्रियाँ भी थीं। सबसे बड़ी पुत्री का नाम प्रियकारिणी था, जिसका विवाह कुण्डपुरनरेश सिद्धार्थ से हुआ था और उन्हें ही भगवान् महावीर के माता-पिता बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। दूसरी पुत्री थी—मृगावती, जिसका विवाह वत्सदेश की राजधानी कौशाम्बी के चन्द्रवंशी राजा शतानीक के साथ हुआ था तीसरी पुत्री सुप्रभा दशार्ण देश (विदिशा जिला) की राजधानी हेमकक्ष के राजा दशरथ को ब्याही गयी थी। चौथी पुत्री प्रभावती कच्छ देश की रोरुका नामक

1. निर्वाण भूमि-सम्बन्धी विस्तार पूर्वक विवेचन के लिए देखिए श्री कन्हैयालाल कृत 'पावा समीक्षा' (प्रकाशक—अशोक प्रकाशन, कटरा बाजार, छपरा, बिहार 1972)। हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दी इण्डियन प्यूपिल, खण्ड 2। दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ. 7 मल्ल।

नगरी के राजा उदयन की रानी हुई। यह अत्यन्त शीलव्रता होने के कारण शीलवती के नाम से भी प्रसिद्ध हुई। चेटक की पाँचवीं पुत्री का नाम ज्येष्ठा था। उसकी याचना गन्धर्व देश के महीपुर नगरवर्ती राजा सात्यकि ने की। किन्तु चेटक राजा ने किसी कारण यह विवाह-सम्बन्ध उचित नहीं समझा। इस पर क्रुद्ध होकर राजा सात्यकि ने चेटक राज्य पर आक्रमण किया। किन्तु वह युद्ध में हार गया और लज्जित होकर उसने दमघर नामक मुनि से मुनिदीक्षा धारण कर ली। ज्येष्ठा और छठी पुत्री चेलना का चित्रपट देखकर मगधराज श्रेणिक उन पर मोहित हो गये, और उनकी याचना उन्होंने चेटक नरेश से की। किन्तु श्रेणिक इस समय आयु में अधिक हो चुके थे, इस कारण चेटक ने उनसे अपनी पुत्रियों का विवाह स्वीकार नहीं किया। इससे राजा श्रेणिक को बहुत दुःख हुआ। इसकी चर्चा उनके मन्त्रियों ज्येष्ठ राजकुमार अभयकुमार से की। अभयकुमार ने एक व्यापारी का वेष धारण कर वैशाली के राजभवन में प्रवेश किया, और उक्त दोनों कुमारियों को राजा श्रेणिक का चित्रपट दिखाकर उन को मोहित कर लिया। उसने सुरंग मार्ग से दोनों का अपहरण करने का प्रयत्न किया। चेलना ने आभूषण लाने के बहाने ज्येष्ठा को तो अपने निवास स्थान की ओर भेज दिया और स्वयं अभयकुमार के साथ निकलकर राजगृह आ गयी, तथा उसका श्रेणिक राजा से विवाह हो गया। उधर जब ज्येष्ठा ने देखा कि उसकी बहन उसे धोखा देकर छोड़ गयी, तो उसे बड़ी विरक्ति हुई और उसने एक आर्यिका के पास जाकर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। चेटक की सातवीं पुत्री का नाम चंदना था। एक बार जब वह अपने परिजन के साथ उपवन में क्रीड़ा कर रही थी, तब मनोवेग नामक एक विद्याधर ने उसे देखा और वह उसके सौन्दर्य पर मोहित हो गया। उसने छिपकर चन्दना का अपहरण कर लिया। किन्तु अपनी पत्नी मनोवेगा के कोप से भयभीत होकर उसने चन्दना को इरावती नदी के दक्षिण तटवर्ती भूतरमण नामक वन में छोड़ दिया। वहाँ उसकी भेंट एक श्यामांक नामक भील से हुई। वह उसे सम्मानपूर्वक अपने सिंह नामक भीलराज के पास ले गया। भीलराज ने उसे कौशाम्बी के एक धनी व्यापारी सेठ ऋषभसेन के कर्मचारी मित्रवीर को सौंप दी, और वह उसे अपने सेठ के पास ले आया। सेठ की पत्नी भद्रा ने ईर्ष्यावश उसे अपनी बन्दिनी दासी बनाकर रखा। इसी अवस्था में एक दिन जब उस नगर में भगवान् महावीर का आगमन हुआ, तब चन्दना ने बड़ी भक्ति से उन्हें आहार कराया। इस प्रसंग से कौशाम्बी नगर में चन्दना की ख्याति हुई, और उसके विषय में उसकी बड़ी बहन रानी मृगावती को भी खबर लगी। वह अपने पुत्र राजकुमार उदयन के साथ सेठ के घर आयी, और चन्दना को अपने साथ ले गयी। फिर चन्दना ने वैराग्य भाव से भगवान् महावीर की शरण में जाकर दीक्षा ग्रहण कर ली, और अन्ततः वही भगवान् के आर्यिका-संघ की अग्रणी हुई।

वैशालीनरेश चेटक तथा उनके गृह-परिवार व सम्पत्ति का इतना वर्णन जैन-पुराणों में पाया जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वैशाली के नरेश चेटक महावीर के नाना

थे, मगधनरेश श्रेणिक तथा कौशाम्बी राजा शतानीक उनके मातृस्वसा-पति (मौसिया) थे, एवं कौशाम्बीनरेश शतानीक के पुत्र उनके मातृस्वसापुत्र (मौसयाते भाई) थे।

(ख) मगध-नरेश श्रेणिक बिम्बिसार

मगध देश के राजा श्रेणिक का भगवान् महावीर से दीर्घकालीन और घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। बहुत-सी जैन-पौराणिक परम्परा तो श्रेणिक के प्रश्न और महावीर अथवा उनके प्रमुख गणधर इन्द्रभूति के उत्तर से ही प्रारम्भ होती है। उनका बहुत-सा वृत्तान्त श्रीचन्द्र कृत अपभ्रंश ग्रन्थ 'कहाकोसु'[1] में पाया जाता है। इस नरेश की ऐतिहासिकता में कहीं कोई सन्देह नहीं है। जैन-ग्रन्थों के अतिरिक्त बौद्ध साहित्य में एवं वैदिक परम्परा के पुराणों में भी इसका वृत्तान्त व उल्लेख पाया जाता है। दिगम्बर जैन परम्परा में तो उनका उल्लेख केवल श्रेणिक नाम से पाया जाता है, किन्तु उन्हें भिम्भा अर्थात् भेरी बजाने की अभिरुचि थी (देखिए कहाकोसु, सन्धि 12) और इस कारण उनका नाम भिम्भसार अथवा भम्भसार भी प्रसिद्ध हुआ पाया जाता है। श्वेताम्बर ग्रन्थों में अधिकतर इसी नाम से इनका उल्लेख किया गया है। इसी शब्द का अपभ्रंश रूप बिम्बिसार या बिम्बसार प्रतीत होता है, और बौद्ध परम्परा में श्रेणिक के साथ-साथ अथवा पृथक् रूप से यही नाम उल्लिखित हुआ है। बौद्ध ग्रन्थ 'उदान अट्ठकथा' 104 के अनुसार बिम्बि सुवर्ण का एक नाम है, और राजा का शरीर स्वर्ण के समान-वर्ण होने के कारण उसका बिम्बिसार नाम पढ़ा। एक तिब्बतीय परम्परा ऐसी भी है कि इस राजा की माता का नाम बिम्बि था और इसी कारण उसका नाम बिम्बिसार पड़ा। किन्तु जान पड़ता है कि ये व्युत्पत्तियाँ उक्त नाम पर-से कल्पित की गयी हैं। श्रेणिक नाम की भी अनेक प्रकार से व्युत्पत्ति की गयी है। हेमचन्द्र कृत अभिधान-चिन्तामणि में 'श्रेणीः कारयति श्रेणिको मगधेश्वरः' इस प्रकार जो श्रेणियों की स्थापना करे वह श्रेणिक; यह व्युत्पत्ति बतलायी गयी है। बौद्ध परम्परा के एक 'विनय-पिटक' की प्रति में यह भी कहा पाया जाता है कि चूँकि बिम्बिसार को उसके पिता ने अठारह श्रेणियों में अवतरित किया था अर्थात् इनका स्वामी बनाया था, इस कारण से उसकी श्रेणिक नाम से प्रसिद्धि हुई। अर्द्धमागधी 'जम्बूद्वीप-पण्णत्ति' में 9 नारू और 9 कारू ऐसी अठारह श्रेणियों के नाम भी गिनाये गये हैं। नौ नारू हैं—कुम्हार, पटवा, स्वर्णकार, सूतकार, गन्धर्व (संगीतकार), कासवग्ग, मालाकार, कच्छकार और तम्बूलि। तथा नौ कारू हैं—चर्मकार, यन्त्रपीडक, गंछियाँ, छिम्पी, कंसार, सेवक, ग्वाल, भिल्ल और धीवर। यह भी सम्भव है कि प्राकृत ग्रन्थों में इनका नाम जो 'सेनीय पाया जाता है, उसका अभिप्राय सैनिक या सेनापति से रहा हो और उसका संस्कृत रूपान्तर भ्रमवश श्रेणिक हो गया हो।[2]

1. कहाकोसु, सन्धि 3, 12, 13, 14, 49, 50
2. मुनि नगराज : आगम और त्रिपिटिक, पृ. 324।
3. श्री चन्द्र कृत कहाकोसु, सन्धि 50

'कहाकोसु' के अनुसार[3] मगध देश के राजगृह नगर के राजा प्रश्रेणिक या उपश्रेणिक की एक रानी चिलातदेवी (किरातदेवी) से चिलातपुत्र या किरातपुत्र नामक कुमार उत्पन्न हुआ। उसने उज्जैनी के राजा प्रद्योत को छल से बन्दी बनाकर अपने पिता के सम्मुख उपस्थित कर दिया। इससे पूर्व उद्योत के विरुद्ध राजा ने जो औदायन को भेजा था उसे उद्योत ने परास्त कर अपने यहाँ बन्दी बना लिया था। चिलातपुत्र की सफलता से उसके पिता को बहुत प्रसन्नता हुई और उन्होंने उसे ही अपना उत्तराधिकारी बनाकर उसका राज्याभिषेक कर दिया। किन्तु वह राज्यकार्य में सफल नहीं हुआ और अनीति पर चलने लगा। अतः मन्त्रियों और सामन्तों ने निर्वासित राजकुमार श्रेणिक को कांचीपुर से बुलवाया। श्रेणिक ने आकर किरातपुत्र को पराजित कर राज्य से निकाल दिया। चिलातपुत्र वन में चला गया और वहाँ ठगों और लुटेरों का नायक बन गया। तब पुनः एक बार श्रेणिक ने उसे परास्त किया। अन्ततः चिलातपुत्र ने विरक्त होकर मुनि-दीक्षा धारण कर ली। इसी अवस्था में वह एक शृगाली का भक्ष्य बनकर स्वर्गवासी हुआ।

श्रेणिक का जन्म उपश्रेणिक की दूसरी पत्नी सुप्रभादेवी से हुआ था। वह बहुत विलक्षण-बुद्धि था। पिता द्वारा जो राज्य की योग्यता जानने हेतु राजकुमारों की परीक्षा की गयी थी, उसमें श्रेणिक ही सफल हुआ। तथापि राजकुमारों में वैर उत्पन्न होने के भय से उसने श्रेणिक को राज्य से निर्वासित कर दिया। पहले तो श्रेणिक नन्दग्राम में पहुँचा, और फिर वहाँ से भी परिभ्रमण करता हुआ तथा अपनी बुद्धि और साहस का चमत्कार दिखाता हुआ कांचीपुर में पहुँच गया। मगध में राजा चिलातपुत्र के अन्याय से त्रस्त होकर मन्त्रियों ने श्रेणिक को आमन्त्रित किया और उसे मगध का राजा बनाया।

एक दिन राजा अपनी राजधानी के निकट वन में आखेट के लिए गया। वहाँ उसने एक मुनि को ध्यानारूढ़ देखकर उसे एक अपशकुन समझा और क्रुद्ध होकर उन पर अपने शिकारी कुत्तों को छोड़ दिया। किन्तु वे कुत्ते भी मुनि के प्रभाव से शान्त हो गये और राजा के बाण भी उन्हें पुष्प के समान कोमल होकर लगे। तब राजा ने अपना क्रोध निकालने के लिए एक मृत सर्प मुनि के गले में डाल दिया। इस घोर पाप से श्रेणिक को सप्तम नरक का आयु-बन्ध हो गया। किन्तु जब उन्होंने देखा कि उनके द्वारा इतने उपसर्ग किये जाने पर भी उन मुनिराज के लेशमात्र भी रागद्वेष उत्पन्न नहीं हुआ, तब उनके मनोगत भावों में परिवर्तन हो गया। जब मुनि ने देखा कि राजा का मन शान्त हो गया है, तब उन्होंने अपनी मधुर वाणी से उन्हें आशीर्वाद दिया और धर्मोपदेश भी प्रदान किया। बस, यहीं राजा श्रेणिक का मिथ्यात्व भाव दूर हो गया और उन्हें क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गयी। वह मुनिराज के चरणों में नमस्कार कर प्रसन्नता से घर लौटे।

एक दिन राजा श्रेणिक को समाचार मिला कि विपुलाचल पर्वत पर भगवान् महावीर का आगमन हुआ है। इस पर राजा भक्तिपूर्वक वहाँ गया और उसने भगवान् की

वन्दना-स्तुति की। इस धर्म-साधना के प्रभाव से उनके सम्यक्त्व की परिपुष्टि होकर सप्तम नरक की आयु घटकर प्रथम नरक की शेष रही, और उसे तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध भी हो गया। इस अवसर पर राजा श्रेणिक ने गौतम गणधर से पूछा कि हे भगवान्, यद्यपि मेरे मन में जैन मत के प्रति इतनी महान् श्रद्धा हो गयी है, तथापि व्रत-ग्रहण करने की मेरी प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ? इसका गणधर ने उत्तर दिया कि पहले तुम्हारी भोगों में अत्यन्त आसक्ति रही है व गाढ़ मिथ्यात्व का उदय रहा है। तुमने दुश्चरित्र भी किया है और महान् आरम्भ भी। इससे जो तीव्र पाप उत्पन्न हुआ, उससे तुम्हारी नरक की आयु बँध चुकी है। देवायु को छोड़कर अन्य किसी भी गति की आयु जिसने बाँध ली है, उसमें व्रत ग्रहण करने की योग्यता नहीं रहती। किन्तु ऐसा जीव सम्यग्दर्शन धारण कर सकता है। यही कारण है कि तुम सम्यक्त्वी तो हो गये; किन्तु व्रत-ग्रहण नहीं कर पा रहे हो।

सर्वं निधाय तच्चित्ते श्रद्धाभून्महती मते।
जैने कुतस्तथापि स्यान्न मे व्रतपरिग्रहः।।
इत्यनुश्रेणिकप्रश्नादवादीद् गणनायकः।
भोगसंजननाद् गाढमिथ्यात्वानुभवोदयात्।।
दुश्चरित्रान्महारम्भात्संचित्यैनो निकाचितम्।
नारकं बद्धवानायुस्त्वं प्रागेवात्र जन्मनि।।
बद्धदेवायुषोऽन्यायुर्नाङ्गीस्वीकुरुते व्रतम्।
श्रद्धानं तु समाधत्ते तस्मात्त्वं नाग्रहीर्व्रतम्।।

(उत्तरपुराण 74, 433-36)

इसी समय गौतम गणधर ने राजा श्रेणिक को यह भी बतला दिया कि भगवान् महावीर के निर्वाण होने पर जब चतुर्थकाल की अवधि केवल तीन वर्ष, आठ माह और पन्द्रह दिन शेष रह जायेगी, तभी उसकी मृत्यु होगी। श्रेणिक इतना दृढ़ सम्यक्त्वी हो गया था कि सुरेन्द्र ने भी उसकी प्रशंसा की। किन्तु इस पर एक देव को विश्वास नहीं हुआ और वह राजा की परीक्षा करने आया। जब राजा एक मार्ग से कहीं जा रहा था, तब उस देव ने मुनि का भेष बनाया और जाल हाथ में लेकर वहाँ मछलियाँ पकड़ने लगा। राजा ने आकर मुनि की वन्दना की, और प्रार्थना की कि मैं आपका दास उपस्थित हूँ, तब आप क्यों यह अधर्म-कार्य कर रहे हैं ? यदि मछलियों की आवश्यकता ही है तो मैं मछलियाँ पकड़ देता हूँ। देव ने कहा—नहीं-नहीं, अब मुझे इससे अधिक मछलियों की आवश्यकता नहीं है। यह वृत्तान्त नगर में फैल गया, और लोग जैन-धर्म की निन्दा करने लगे। तब राजा श्रेणिक ने एक दृष्टान्त उपस्थित किया। उन्होंने अपनी सभा के राजपुत्रों को जीवनवृत्ति सम्बन्धी लेख अपनी मुद्रा से मुद्रित कर और उसे मलावलिप्त कर प्रदान किया। उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से इस लेख को अपने मस्तक पर चढ़ाकर स्वीकार किया।

तब राजा ने उनसे पूछा कि इन मलिन लेखों को तुमने अपने मस्तक पर क्यों चढ़ाया ? उन्होंने उत्तर दिया कि जिस प्रकार सचेतन जीव मलिन शरीर से लिप्त होते हुए भी वन्दनीय है, उसी प्रकार आपका यह लेख मलिन होते हुए भी हमारे लिए पूज्य है। तब राजा ने हँसकर उन्हें बतलाया कि इसी प्रकार धर्म-मुद्रा के धारक मुनियों में यदि कोई दोष भी हो, तो उनसे घृणा नहीं, किन्तु उनकी विनय ही करना चाहिए, और विनम्रता से उन्हें दोषों से मुक्त करना चाहिए। राजा की ऐसी धर्म-श्रद्धा को प्रत्यक्ष देखकर वह देव बहुत प्रसन्न हुआ और राजा को एक उत्तम हार देकर स्वर्गलोक को चला गया। यह कथानक इस बात का प्रमाण है कि जब से श्रेणिक ने जैन-धर्म स्वीकार किया, तब से उनकी धार्मिक श्रद्धा उत्तरोत्तर दृढ़ होती गयी और वे उससे कभी विचलित नहीं हुए।

(ग) श्रेणिक-सुत अभयकुमार

श्रेणिक जब राजकुमार ही थे और राज्य से निर्वासित होकर चिलातपुत्र के राज्यकाल में कांचीपुर में निवास कर रहे थे, तब उनका विवाह वहां के एक द्विज की कन्या अभयमती से हो गया था। उससे उनके अभयकुमार नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ जो अत्यन्त विलक्षण-बुद्धि था। उसने ही उपाय करके अपने पिता का विवाह उनकी इच्छानुसार चेलनादेवी से कराया। वह भी श्रेणिक के साथ-साथ भगवान् महावीर के समवसरण में गया था, और न केवल दृढ़-सम्यक्त्वी, किन्तु धर्म का अच्छा ज्ञाता बन गया था। यहाँ तक कि स्वयं राजा श्रेणिक ने भी उससे धर्म का स्वरूप समझने का प्रयत्न किया था। अन्ततः अभयकुमार ने भी मुनि-दीक्षा ग्रहण कर ली, और वे मोक्षगामी हुए। (उत्तरपुराण 74, 526–27 आदि.)

(घ) श्रेणिक-सुत वारिषेण

जैसाकि पहले कहा जा चुका है, राजा श्रेणिक का चेलनादेवी से विवाह उनकी ढलती हुई अवस्था में उनके ज्येष्ठ पुत्र अभयकुमार के प्रयत्न से ही हुआ था। चेलना ने वारिषेण नामक पुत्र को जन्म दिया। वह बाल्यावस्था से ही धार्मिक प्रवृत्ति का था, और उत्तम श्रावकों के नियमानुसार श्मशान में जाकर प्रतिमायोग किया करता था। एक बार विद्युच्चर नामक अंजनसिद्ध चोर ने अपनी प्रेयसी गणिकासुन्दरी को प्रसन्न करने के लिए राजभवन में प्रविष्ट होकर चेलनादेवी के हार का अपहरण किया। किन्तु उसे वह अपनी प्रिया के पास तक नहीं ले जा सका। राजपुरुष उस चन्द्रहास हार की चमक को देखते हुए उसका पीछा करने लगे। यह बात उस चोर ने जान ली, और वह श्मशान में ध्यानारूढ़ वारिषेण कुमार के चरणों में उस हार को फेंककर भाग गया। राज-सेवकों ने इसकी सूचना राजा को दी। राजा ने वारिषेण को ही चोर जानकर क्रोधवश उसे मार

डालने की आज्ञा दे दी। किन्तु वारिषेण के धर्म-प्रभाव से उस पर राजपुरुषों के अस्त्र-शस्त्र नहीं चले। उसका वह दिव्य प्रभाव देखकर राजा ने उन्हें मनाकर राजमहल में लाने का प्रयत्न किया, किन्तु वे नहीं आये और महाव्रती मुनि हो गये। उन्होंने पलासखेड़ नामक ग्राम में भिक्षा-निमित्त जाकर अपने एक बालसखा को भी सम्बोधित किया और उसे भी मुनि बना लिया। एक बार उसका मन पुनः अपनी पत्नी की ओर चलायमान हुआ। किन्तु वारिषेण ने उसे अपनी माता चेलना के महल में ले जाकर अपनी निरासक्ति भावना के द्वारा पुनः उसे मुनिव्रत में दृढ़ कर दिया।

(ङ) श्रेणिक-सुत गजकुमार

राजा श्रेणिक की एक अन्य पत्नी धनश्री नामक थी। उसे जब पाँच मास का गर्भ था तब उसे यह दोहला उत्पन्न हुआ कि आकाश मेघाच्छादित हो, मन्द-मन्द वृष्टि हो रही हो, तब वह अपने पति के साथ हाथी पर बैठकर परिजनों से सहित महोत्सव के साथ वन में जाकर क्रीडा करे। उस समय वर्षाकाल न होते हुए भी अभयकुमार ने अपने एक विद्याधर मित्र की सहायता से अपनी विमाता का यह दोहला सम्पन्न कराया। यथा समय रानी धनश्री ने गजकुमार नामक पुत्र को जन्म दिया। जब वह युवक हुआ तब एक दिन उसने भगवान् महावीर की शरण में जाकर धर्मोपदेश सुना और दीक्षा ग्रहण कर ली। एक बार गजकुमार मुनि कलिंग देश में जा पहुँचे और वहाँ की राजधानी दन्तीपुर की पश्चिम दिशा में एक शिला पर विराजमान होकर आतापन योग करने लगे। वहाँ के राजा को ऐसे योग का कोई ज्ञान नहीं था। अतः उसने अपने मन्त्री से पूछा कि यह पुरुष ऐसा आताप क्यों सह रहा है ? उसका मन्त्री बुद्धदास जैन-धर्म विरोधी था। अतः उसने राजा को सुझाया कि इस पुरुष को वात रोग हो गया है और वह अपने शरीर में गरमी लाने के लिए ऐसा कर रहा है। राजा ने करुणाभाव से पूछा—इसकी इस व्याधि को कैसे दूर किया जाये ? मन्त्री ने उपाय बताया कि जब यह अनाथ पुरुष नगर में भिक्षा माँगने जाये, तब उसके बैठने की शिला को अग्नि से खूब तपा दिया जाये, जिससे उसके ताप द्वारा उस पर बैठने वाले की प्रभंजन वायु उपशान्त हो जायेगी। राजा की आज्ञा से वैसा ही किया गया। परिणाम यह हुआ कि जब गजकुमार मुनि भिक्षा से लौटकर उस शिला पर विराजमान हुए, तब वे उसकी तीव्र ताप के उपसर्ग को सहकर मोक्ष गामी हो गये। पश्चात् वहाँ देवों का आगमन हुआ और वहाँ के मन्त्री, राजा तथा अन्य सहस्रों जन जैनधर्म में दीक्षित हुए।

(च) कौशाम्बीनरेश शतानीक व उदयन तथा उज्जैनीनृप चण्डप्रद्योत

चन्दना के वृत्तान्तों में आया है कि वैशालीनरेश चेटक की सात पुत्रियों में से एक मृगावती कौशाम्बी के सोमवंशी नरेश शतानीक से ब्याही गयी थी। यह राजधानी इलाहाबाद से लगभग 35 मील दक्षिण-पश्चिम की ओर वहीं थी जहाँ अब कोसम नाम का ग्राम है। जब महावीर कौशाम्बी आये और चन्दना ने उन्हें आहार दिया, तब रानी मृगावती ने भी आकर अपनी उस कनिष्ठ भगिनी का अभिनन्दन किया। शतानीक के पुत्र उदयन थे, जिनका विवाह उज्जैनीनरेश चण्डप्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता से हुआ था। बौद्ध साहित्यिक परम्परानुसार उदयन का और बुद्ध का जन्म एक ही दिन हुआ था। तथा एक सुदृढ़ जैन परम्परा यह है कि जिस रात्रि में प्रद्योत के मरण के पश्चात् उनके पुत्र पालक का राज्याभिषेक हुआ, उसी रात्रि में महावीर का निर्वाण हुआ था। इस प्रकार ये उल्लेख उक्त दोनों महापुरुषों के समसामयिकत्व तथा तात्कालिक राजनैतिक स्थितियों पर उपयोगी प्रकाश डालते हैं।

14. महावीर-जीवनचरित्र विषयक साहित्य का विकास

(क) प्राकृत में महावीर-साहित्य

भगवान् महावीर का निर्वाण ई. सन् 527 वर्ष पूर्व हुआ और उसी समय से उनके जीवन-चरित्र सम्बन्धी जानकारी संगृहीत करना आरम्भ हो गया। भगवान् के प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति गौतम थे जो 'धवला' के रचयिता वीरसेन के अनुसार चारों वेदों और छहों अंगों के ज्ञाता शीलवान् उत्तम ब्राह्मण थे। ऐसे विद्वान् शिष्य के लिए स्वाभाविक था कि वे अपने गुरु के जीवन और उपदेशों को सुव्यस्थित रूप से संगृहीत करें। उन्होंने यह सब सामग्री बारह अंगों में संकलित की, जिसे द्वादश गणि-पिटक भी कहा गया है। इनके बारहवें अंग दृष्टिवाद में एक अधिकार प्रथमानुयोग भी था, जिसमें समस्त तीर्थंकरों व चक्रवर्तियों आदि महापुरुषों की वंशावलियों का पौराणिक विवरण संग्रह किया गया, जिसमें तीर्थंकर महावीर और उनके नाथ या ज्ञातृवंश का इतिहास भी सम्मिलित था।

दुर्भाग्यतः इन्द्रभूति गौतम द्वारा संगृहीत वह साहित्य अब अप्राप्य है। किन्तु उसका संक्षिप्त विवरण समस्त उपलभ्य अर्द्धमागधी साहित्य में बिखरा हुआ पाया जाता है। 'समवायांग' नामक चतुर्थ अंग में चौबीसों तीर्थकरों के माता-पिता, जन्म-स्थान, प्रव्रज्या-स्थान, शिष्य-वर्ग, आहार-दाताओं आदि का परिचय कराया गया है। प्रथम श्रुतांग आचारांग में महावीर की तपस्या का बहुत मार्मिक वर्णन पाया जाता है। पाँचवें श्रुतांग 'व्याख्या-प्रज्ञप्ति' में जो सहस्रों प्रश्नोत्तर महावीर और गौतम के बीच हुए ग्रथित हैं। उनमें

उनके जीवन व तात्कालिक अन्य घटनाओं की अनेक झलकें मिलती हैं। उनके समय में पार्श्वापत्यों अर्थात् पार्श्वनाथ के अनुयायियों का बाहुल्य था तथा आजीवक सम्प्रदाय के संस्थापक मंखलि-गोशाल उनके सम-सामयिक थे। उसी काल में मगध और वैशाली के राज्यों में बड़ा भारी संग्राम हुआ था जिसमें महाशिला-कंटकं व रथ-मुसल नामक यन्त्र-चालित शस्त्रों का उपयोग किया गया था, इत्यादि। सातवें अंग 'उपासकाध्ययन' में महावीर के जीवन से सम्बद्ध वैशाली, ज्ञातृ-षण्डवन, कोल्लाग सन्निवेश, कर्मारग्राम, वाणिज्यग्राम आदि स्थानों के ऐसे उल्लेख प्राप्त हैं, जिनसे उनके स्थान-निर्णय में सहायता मिलती है। नवें श्रुतांग 'अनुत्तरौपपातिक' में तीर्थंकर के सम-सामयिक मगध-नरेश श्रेणिक की चेलना, धारिणी व नन्दा नामक रानियों तथा उनके तेईस राजकुमारों के दीक्षित होने के उल्लेख हैं। मूलसूत्र 'उत्तराध्ययन' व 'दशवैकालिक' में महावीर के मूल दार्शनिक, नैतिकं व आचारसम्बन्धी विचारों का विस्तार से परिचय प्राप्त होता है। 'कल्पसूत्र में महावीर का' व्यवस्थित रीति से जीवन-चरित्र मिलता है। यह समस्त साहित्य उत्तरकालीन अर्द्धमागधी भाषा में है।

शौरसेनी प्राकृत में यतिवृषभ कृत 'तिलोय-पण्णत्ति' (त्रिलोक-प्रज्ञप्ति) ग्रन्थ बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उसमें प्राकृत गाथाओं में हमें तीर्थंकरों व अन्य शलाका-पुरुषों के चरित्र नामावली-निबद्ध प्राप्त होते हैं। इनमें महावीर की जीवन-विषयक प्रायः समस्त बातों की जानकारी संक्षेप में स्मरण रखने योग्य रीति से मिल जाती है। (सोलापुर, 1952)

इसी नामावली-निबद्ध सामग्री के आधार पर महाराष्ट्री प्राकृत के आदि महाकाव्य 'पउम-चरियं' में महावीर का संक्षिप्त जीवन-चरित्र, रामचरित्र की प्रस्तावना के रूप में प्रस्तुत किया गया है। (भावनगर, 1914)। संघदास और धर्मदासगणि कृत 'वसुदेव-हिण्डी' (4-5वीं शती) प्राकृत कथा साहित्य का बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें भी अनेक तीर्थंकरों के जीवन-चरित्र प्रसंगवश आये हैं जिनमें वर्धमान स्वामी का भी है। (भावनगर, 1930-31)। शीलांक कृत 'चउपन्नमहा-पुरिस-चरियं' (वि-सं. 925) में भी महावीर का जीवन-चरित्र प्राकृत गद्य में वर्णित है। (वाराणसी 1961)।

भद्रेश्वर कृत कहावलि (12 वीं शती) में सभी त्रेसठ शलाकापुरुषों के चरित्र सरल प्राकृत गद्य में वर्णित हैं (गा. ओ. सी.)। पूर्णतः स्वतन्त्र प्रबन्ध रूप से महावीर का चरित्र गुणचन्द्रसूरि द्वारा 'महावीर-चरियं' में वर्णित है (वि. सं. 1139)। इसमें आठ प्रस्ताव हैं, जिनमें प्रथम चार में महावीर के मरीचि आदि पूर्व भवों का विस्तार से वर्णन है (बम्बई 1929)। गुणचन्द्र के ही सम-सामयिक देवेन्द्र अपरनाम नेमिचन्द्रसूरि ने भी पूर्णतः प्राकृत पद्यबद्ध 'महावीर-चरियं' की रचना की (वि. सं. 1141)। इसमें मरीचि से लेकर महावीर तक छब्बीस भवों का वर्णन है, जिसकी कुल पद्य-संख्या लगभग 2400 है (भावनगर, वि. सं. 1973)। इनसे कुछ ही समय पश्चात् (वि. सं. 1168 के लगभग) देवभद्रगणि ने भी 'महावीर-चरियं' की रचना की (अहमदाबाद, 1945)।

(ख) संस्कृत में महावीर-साहित्य

'तत्त्वार्थसूत्र'-जैसी सैद्धान्तिक रचनाओं को छोड़ कर जैन साहित्य-सृजन में संस्कृत भाषा का उपयोग अपेक्षाकृत बहुत पीछे किया गया। (हम जानते हैं कि सिद्धसेन दिवाकर ने अपनी पाँच स्तुतियाँ भगवान् महावीर को ही उद्देशित करके लिखी हैं। आरम्भकालीन काव्यशैली में लिखित जटिल या जटाचार्य के 'वरांगचरित' तथा रविषेण के 'पद्मपुराण' (ई. 676) की ओर संस्कृत जैन साहित्य में हम निर्देश कर सकते हैं। ये दोनों 'कुवलयमाला' (ईसा के 779) से भी पूर्वकालीन हैं।) तीर्थंकरों के जीवन-चरित्र पर 'महापुराण' नामक सर्वांग-सम्पूर्ण रचना जिनसेन और उनके शिष्य गुणभद्र द्वारा शक सं. 820 के लगभग समाप्त की गयी थी। इसके प्रथम 47 पर्व आदिपुराण के नाम से प्रसिद्ध हैं जिनमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और उनके पुत्र प्रथम चक्रवर्ती भरत का जीवन-चरित्र वर्णित है। 48 से 76 तक पर्व उत्तरपुराण कहलाता है, जिसकी पूरी रचना गुणभद्र-कृत है। और उसमें शेष तेईस तीर्थंकरों व अन्य शलाकापुरुषों के जीवनवृत्त हैं। इनमें तीर्थंकर महावीर का चरित्र अन्तिम तीन सर्गों में (74 से 76 तक) सुन्दर पद्यों में है, जिनकी कुल पद्यसंख्या 549+691+578=1818 है। (वाराणसी, 1954)। लगभग पौने तीन सौ वर्ष पश्चात् ऐसे ही एक विशाल त्रिषष्टि-शलाका-पुरुषचरित की रचना हेमचन्द्राचार्य ने 10 पर्वों में की, जिसका अन्तिम पर्व महावीरचरित्रविषयक है (भावनगर, 1913)। एक महापुरुष-चरित स्वोपज्ञ टीका सहित मेरुतुंग द्वारा रचा गया, जिसके पांच सर्गों में क्रमशः ऋषभ, शान्ति, नेमि, पार्श्व और महावीर के चरित्र वर्णित हैं। यह रचना लगभग 1300 ई. की है। काव्य की दृष्टि से शक सं. 910 में असग द्वारा 18 सर्गों में रचा गया वर्धमान-चरित है (सोलापुर 1931)। किन्तु यहाँ भी प्रथम सोलह सर्गों में महावीर के पूर्व भवों का वर्णन है और उनका जीवन-वृत्त अन्तिम दो सर्गों में है। सकलकीर्तिकृत वर्धमान-पुराण में 19 सर्ग हैं और उसकी रचना वि. सं. 1518 में हुई। पद्मनन्दि, केशव और वाणीवल्लभ द्वारा भी संस्कृत में महावीर-चरित्र लिखे जाने के उल्लेख पाये जाते हैं।

(ग) महावीर-जीवन पर अपभ्रंश साहित्य

समस्त तीर्थंकरों व अन्य शलाकापुरुषों के चरित्र पर अपभ्रंश में विशाल और श्रेष्ठ तथा सर्व काव्य-गुणों से सम्पन्न रचना पुष्पदन्त कृत 'महापुराण' है (शक सं. 887)। इसमें कुल 102 सन्धियाँ हैं, जिनमें महावीर का जीवन-चरित्र सन्धि 95 से अन्त तक वर्णित है (बम्बई 1941)। कवि विबुध श्रीधर ने भी महावीर के जीवन पर एक स्वतन्त्र रचना 'वड्ढमाणचरिउ' की रचना की थी। उनकी एक अन्य रचना पासणाह-चरिउ का समाप्ति-काल वि. सं. 1189 उल्लिखित है। अतः इसी काल के लगभग प्रस्तुत ग्रन्थ का रचनाकाल

निश्चित है। श्रीधर की अपभ्रंश रचनाएँ इस कारण भी विशेष रूप से ध्यानाकर्षक हैं कि कवि ने अपने को हरियाणा-निवासी प्रकट किया है। हरियाणा 'आभीरकाणाम्' का अपभ्रंश है, जिससे वह आभीर जाति की भूमि सिद्ध होती है, और काव्यादर्श के कर्ता दण्डी के अनुसार आभीरों आदि की बोली के आधार से अपभ्रंश काव्य की शैली विकसित हुई थी। अतः कहा जा सकता है कि पाँचवीं-छठी शती से लेकर बारहवीं शती तक हरियाणा में अपभ्रंश रचना की परम्परा प्रचलित रही। खोज से इस प्रदेश के कवियों की अन्य रचनाओं का पता लगाना तथा उनके आधार से उस क्षेत्र की प्रचलित बोलियों का तुलनात्मक अध्ययन करना भाषाशास्त्र व ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण होगा।

विक्रम संवत् 1500 के आस-पास ग्वालियर के तोमरनरेश डूंगरसिंह और उनके पुत्र कीर्तिसिंह के राज्यकाल में कविवर रयधू ने अनेक रचनाओं द्वारा अपभ्रंश साहित्य को पुष्ट किया। उनके द्वारा रचित 'सम्मइ-चरिउ' दस सन्धियों में पूर्ण हुआ है। नरसेन-कृत 'वड्ढमाण-कहा' की रचना का ठीक समय ज्ञात नहीं है। किन्तु इसी कवि की एक अन्य रचना 'सिरिवाल-चरिउ' की हस्तलिखित प्रति वि. सं. 1512 की है। अतः नरसेन का रचना-काल इसके पूर्व सिद्ध होता है। जयमित्रहल्ल कृत 'वड्ढमाण-कव्व' की एक हस्तलिखित प्रति वि. सं. 1545 की प्राप्त है। ग्रन्थ के अन्त में पद्मनन्दि मुनि का उल्लेख है जो अनुमानतः प्रभाचन्द्र भट्टारक के शिष्य हैं, जिनके वि. सं. 1385 से 1450 तक के लेख मिले हैं। कवि ने अपनी रचना को 'होलिवम्म-कण्णाभरण' कहा है तथा हरिइन्दु (हरिश्चन्द्र) कवि को अपना गुरु माना है।

(घ) महावीर-जीवन पर कन्नड़ साहित्य

संस्कृत में असग विरचित 'वर्द्धमानपुराण' से अनेक कन्नड़ कवियों को स्फूर्ति मिली है। असग का 'अगस' ऐसे ही लिखते हैं और कन्नड़ में इसका अर्थ रजक (धोबी) होता है। किन्तु सचमुच 'असग' शब्द 'असंग' शब्द का जनसाधारण उच्चारण जैसा मालूम होता है। अभी-अभी दूसरे नागवर्म विरचित 'वीरवर्धमान-पुराण' एक हस्तलिखित ग्रन्थ भी प्रकाश में आया है। इसमें सोलह सर्ग हैं, और उनमें महावीर का पूर्वभव और उनके तीर्थंकर जीवन का वर्णन है। यह एक चम्पूकाव्य है और इसमें कई संस्कृत वृत्तों का उपयोग हुआ है। इसका काल सन् 1042 है। उसके बाद आचण्ण ने 'वर्द्धमानपुराण' लिखा है। इनका सम्मानसूचक नाम वाणीवल्लभ था। यह एक चम्पू है और इसकी रचना संस्कृत काव्यशैली में हुई है। इसमें भी सोलह सर्ग हैं और कवि ने कई एक अलंकारों का उपयोग किया है। इसका काल लगभग सन् 1195 है। पद्मकवि ने 1528 में जनसाधारण शैली में सांगत्य छन्द में 'वर्द्धमानचरित्र' लिखा है। इसकी बारह सन्धियाँ हैं।

(च) बौद्ध त्रिपिटक-पालि साहित्य में महावीर

जैन आगम ग्रन्थों में बुद्ध के कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलते। किन्तु बौद्ध त्रिपिटक में 'निग्गंठ-नातपुत्त' (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र) के नाम से महावीर व उनके उपदेश आदि सम्बन्धी अनेक सन्दर्भ पाये जाते हैं। इनका पता लगभग सौ वर्ष पूर्व तब चला जब लन्दन की पालि टैक्स्ट सोसायटी तथा 'सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट' नामक ग्रन्थमालाओं में बौद्ध एवं जैन आगम ग्रन्थों का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। डॉ. हर्मन याकोबी ने आचारांग, कल्पसूत्र, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन सूत्र का अनुवाद किया (से. बु. क्र. 22 व 45) और उनकी प्रस्तावना में पालि-साहित्य के उन उल्लेखों की ओर ध्यान आकृष्ट किया, जिनमें निग्गंठ-नातपुत्त के उल्लेख आये हैं। तत्पश्चात् क्रमशः ऐसे उल्लेखों की जानकारी बढ़ती गयी, और अन्ततः मुनि नगराज जी ने 'आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन' शीर्षक ग्रन्थ (कलकत्ता 1969) में छोटे-बड़े ऐसे 42 पालि उद्धरणों का संकलन किया है, जिनसे निस्सन्देह रूप से सिद्ध हो जाता है कि दोनों महापुरुष सम-सामयिक थे; उनमें महावीर जेठे थे, तथा उनका निर्वाण भी बुद्ध से पूर्व हो गया था। उन्होंने पूरी छान-बीन के पश्चात् वीर-निर्वाण-काल ई. पू. 527 ही प्रमाणित किया है।

महावीर और उनका जीवन-दर्शन

15. पुरोहित और संन्यासी

भारत में बौद्धिक और आध्यात्मिक स्तर पर सर्वोच्च तत्त्व के प्रति सदा से जिज्ञासा बनी रही है। यह क्षेत्र कुछ विशेष व्यक्तियों तक ही सीमित रहा है। जहाँ तक सामान्य जनता का सम्बन्ध है, वह प्रायः अज्ञान और दारिद्र्य से ग्रस्त, देवी-देवताओं और पितरपूजन की मान्यता को अपनाये रही। एक धार्मिक नेता की शक्ति इस बात में निहित थी कि वह इस जनसमुदाय को किस प्रकार अपनी मान्यताओं के प्रति आकृष्ट करता है। भारत में दो प्रकार के धार्मिक नेता हुए हैं—पुरोहित और संन्यासी।

पुरोहित वर्ग कर्मकाण्ड का समर्थक था। उसकी प्रबल मान्यता थी कि देवी-देवताओं समेत इस विश्व का कल्याण और अस्तित्व यज्ञों एवं बलि-अनुष्ठानों की प्रथा के निर्वाह पर निर्भर रहता है। इन प्रथाओं और क्रियाकलापों का विस्तार उत्तरोत्तर जटिल होता गया। पुरोहित वर्ग ने बहुदेववाद का प्रचार किया और बताया कि इस जगत् में अनेक प्रकार के देवी-देवता बसे हुए हैं। ये देवी-देवता प्रायः प्रकृति के विभिन्न रूप ही माने जाते थे। मनुष्य को एकमात्र इन देवताओं की कृपा पर आश्रित बताया गया था। और केवल पुरोहित में ही यह क्षमता थी कि वह इन यज्ञों और बलि-अनुष्ठानों के द्वारा जनसाधारण को देवताओं की कृपा प्राप्त कराये। यह वैदिक धर्म और उनके अनुयायियों की मूल विचारधारा थी जो कि भारत में बाहर से, मुख्यतः उत्तर-पश्चिम से आयी और व्यापक रूप से फैले कर्मकाण्डीय विधानों की रहस्यमयी सम्मोहन क्षमता के कारण धीरे-धीरे दक्षिण और पूर्व में फैलती गयी। यह बात अलग है कि उसके प्रभाव में आने वाले अनुयायियों की संख्या सीमित ही रही।

16. पूर्वी भारत में विचार-क्रान्ति

इसके साथ ही साथ, किन्तु इससे सर्वथा भिन्न भारत के पूर्वांचल में, गंगा-यमुना के तटवर्ती हरे-भरे उर्वर जनपदों में संन्यास जीवन बिताने वाले ऐसे उपदेशक ऋषियों की विचारधारा भी प्रवाहित थी जो उच्चकुलों को त्यागकर आये थे, जिनके पास धार्मिक-चिन्तन-मनन के लिए पर्याप्त समय था। उनके चिन्तन का विषय था—मानव में तथा अन्य सभी चेतन पदार्थों में आत्मा की खोज और विश्व के अन्य जड़ पदार्थों के

संदर्भ में उस आत्मा के सम्बन्ध का ज्ञान। इस जिज्ञासा ने उन्हें लौकिक एवं पारलौकिक जीवन की समस्या का अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया। वे जड़ और चेतन दोनों की पृथक् सत्ता मानते थे। यही कारण रहा कि जड़ और चेतन को निश्चित रूप से शाश्वत माना गया, यद्यपि उनकी निरन्तर परिवर्तन की प्रक्रिया भी स्वीकार की गयी। लौकिक एवं पारलौकिक जीवन जड़ एवं चेतन के अनादिकाल से चले आये सम्बन्धों का परिणाम है और यही सम्बन्ध सभी सांसारिक दुःखों का कारण है। धर्म का उद्देश्य चेतन को जड़ के चंगुल से मुक्त कराना है, ताकि वह अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख के अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर सके। मनुष्य स्वयं अपना निर्माता है। उसके विचार, उसके शब्द, उसके क्रिया-कलापों ने ही उसे मानव स्वरूप प्रदान किया है और सदा करते रहेंगे। यह मनुष्य के अपने हाथ में है कि वह अपने वर्तमान या भविष्य को बनाये या बिगाड़े। अतीत के महान् उपदेशक मनुष्य को धर्म-पथ पर ले जाने वाले आदर्श प्रेरणा स्रोत हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह त्याग एवं चारित्र के कठोर अनुशासन का पालन करते हुए, पूर्ण आशा के साथ, आत्मोन्नति के प्रशस्त पथ का अनुसरण कर उस समय तक संघर्ष-रत रहे; जब तक कि उसे पूर्णत्व या शुद्धात्म-स्वरूप की प्राप्ति नहीं हो जाती।

इस प्रकार द्रष्टव्य है कि पूर्वांचल की इस धार्मिक विचारधारा में न तो किसी ऐसे देवता का स्थान है जो विश्व का निर्माता हो और उसके पदार्थों में हस्तक्षेप करता हो, और न किसी ऐसे पुरोहित का जिसमें किसी विशिष्ट देवता को सन्तुष्ट करने के लिए कोई रहस्यमयी क्षमता विद्यमान हो। इस विचारधारा का नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर जैसे जैन तीर्थंकरों ने; गोशाल जैसे अजीवक सम्प्रदाय के उपदेशकों ने; कपिल जैसे सांख्य दार्शनिकों ने तथा महात्मा बुद्ध जैसे बौद्ध धर्म के प्रवर्तकों ने भली-भांति प्रतिनिधित्व किया।

वर्तमान युग में राजनैतिक स्वाधीनता के साथ ही देश के सभी अंचलों में एक अपूर्व उत्साह की लहर उमड़ी। यह विशेषकर उस शिक्षित वर्ग में स्पष्ट और मुखर हुई, जिसने प्राचीन भारतीय परम्परा का नये परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया। इस संदर्भ में यह उचित ही है कि महावीर और बुद्ध जैसे महान् व्यक्तियों का आदर के साथ स्मरण किया जाय। यह सोचकर प्रायः आश्चर्य होता है कि ऐसी महान् आत्माओं को, जिनके उपदेश शाश्वत मानवीय हितों से आपूरित हैं, एक अवधि तक कैसे भुलाये रखा गया और वह भी उसी भूमि पर, जिसे उन्होंने उसके नैतिक मानदण्डों के आधार पर उन्नत और समृद्ध बनाया। फिर भी, यह एक सुखद लक्षण है कि उनकी महानता को आज पहले से कहीं अधिक स्वीकारा जा रहा है। यों तो हमारे साथ एक विडम्बना ही है कि हमें अपने पूर्वजों और उनकी उपलब्धियों से परिचित कराने का कार्य पश्चिम के विद्वानों को करना पड़ा। जैन एवं बौद्ध साहित्य के क्षेत्र में पाश्चात्य विद्वानों ने बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। यही कारण है कि आज हम महावीर और बुद्ध की महानता का मूल्यांकन करने में पहले से कहीं अधिक अच्छी स्थिति में हैं।

17. महावीर

कुछ वर्षों पूर्व महात्मा बुद्ध का 2500वाँ परिनिर्वाण दिवस तथा पूरे देश में एवं विदेशों में भी महावीर का 2500वाँ निर्वाण महोत्सव मनाया गया। स्वाभाविक ही है कि परिणामस्वरूप हम महावीर के व्यक्तित्व और सिद्धान्तों का अध्ययन करें, उन्हें समझें।

'महावीर' बुद्ध के समकालीन थे। वे चौबीसवें तीर्थंकर थे। उनके उपदेश समग्र पूर्वी भारत की विचारधारा में समाहित हैं। महावीर और उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित विचारधारा आज जैनधर्म के नाम से प्रसिद्ध है। उनके सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने वाला जैन साहित्य विभिन्न भाषाओं में मिलता है। होना यह चाहिए कि सम्प्रदाय या भाषा का भेद इस साहित्य के अध्ययन में बाधक न बने।

जिन्होंने बिहार का भ्रमण किया है, वे देश की उस उर्वर भूमि से परिचित होंगे। उन्हें इस बात का भी ज्ञान होगा कि भारतीय चिन्तन और संस्कृति के इतिहास में बिहार ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। जनक, महावीर और बुद्ध जैसे आत्मदर्शन के उन्नायकों का इस भाग से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। बिहार में ही वह मिथिला है, जिसका मीमांसा, न्याय और वैशेषिक दर्शनों में पर्याप्त योगदान रहा है।

आज से 2500 वर्ष पूर्व वैशाली (पटना से 30 मील उत्तर में आधुनिक बसाढ़ ग्राम) एक समृद्ध राजधानी थी। उसका एक उपनगर कुण्डपुर या क्षत्रियकुण्ड था। यहीं राजप्रासाद में राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला या प्रियकारिणी की कोख से महावीर ने जन्म लिया था। अपने विशेष गुणों के अनुरूप ही वे ज्ञातृपुत्र, वैशालीय, वर्द्धमान, सन्मति आदि नामों से भी विख्यात हुए। उनकी माता विदेह के शक्ति-सम्पन्न लिच्छिवि गणतन्त्र के महाराजा चेटक के परिवार की थीं। महाराजा चेटक के आह्वान पर ही लिच्छिवि और मल्ल रक्षा तथा युद्ध के मामलों में सहयोगी बने थे। महावीर के विवाह के सम्बन्ध में कोई सर्वमान्य मत नहीं है। कुछ के अनुसार वे बाल-ब्रह्मचारी रहे, कुछ का विचार है कि उन्होंने यशोदा नाम की राजकुमारी से विवाह किया था, जिससे प्रियदर्शना नामक पुत्री उत्पन्न हुई थी। एक राजपुत्र होने से तथा अपने समय के राजवंशों से बहुत ही मधुर सम्बन्ध होने के कारण उनसे यह आशा की जाती थी कि वे लौकिक सुख-समृद्धि का उपभोग करते हुए अपने पिता के राज्य का सम्यक् संचालन करेंगे, किन्तु ऐसा नहीं हुआ। 30 वर्ष की अल्प आयु में ही एक महान् वीर की भाँति महावीर ने सारे राजसी भोग-विलासों को तिलांजलि देकर संन्यास धारण कर लिया, ताकि सच्चे आत्मिक सुख की प्राप्ति हो सके और इस प्रकार विश्व के समक्ष जीवन के सही मूल्यों को रखा जा सके तथा विश्व की समस्याओं का सफलतापूर्वक समाधान कर एक आदर्श उदाहरण प्रस्तुत किया जा सके। आत्मिक शुद्धि एवं शान्ति की दिशा में मोह और परिग्रह सबसे बड़ी बाधाएँ हैं। महावीर ने इन सबको त्याग दिया। लौकिक सुख स्वयं में पूर्ण नहीं है, यह सोच कर वह निर्ग्रन्थ हो गये और शरीर पर बिना कोई वस्त्र धारण किये कठोर तपश्चरण

में लग गये। उनके मार्ग में आयी हुई कठिनाइयों और यातनाओं का सजीव एवं विस्तृत वर्णन हमें 'आचारांग' इत्यादि आगम ग्रंथों में मिलता है। लोग उन्हें गालियाँ देते थे, बच्चे उन पर पत्थर फेंकते थे, और इस प्रकार पूर्वी बंगाल में उन्हें यातनाएँ सहन करनी पड़ीं। अन्त में 12 वर्ष की कठिन तपश्चर्या के पश्चात् महावीर ने इन भौतिक दुर्बलताओं और सीमाओं पर विजय पा ली। उन्होंने क्षेत्र, काल की सीमाओं से परे केवलज्ञान प्राप्त किया, वे केवली और सर्वज्ञ हो गये।

उस समय राजा श्रेणिक बिम्बसार राजगृह के प्रशासक थे। राजगृह के निकट ही विपुलाचल पर्वत पर महावीर की प्रथम देशना हुई। पूरे 30 वर्ष तक वे देश के विभिन्न अंचलों में भ्रमण करते रहे। इसे विहार या धर्म-यात्रा कहा गया। उनके तथा ठीक इसी प्रकार बुद्ध के इस विहार या धर्म-यात्रा के कारण ही मगध राज्य का नाम 'बिहार' पड़ गया।

महावीर के माता-पिता तीर्थंकर पार्श्वनाथ की परम्परा के अनुयायी थे। अपने विहार के समय महावीर समाज के समक्ष जीवन भी विभिन्न समस्याओं की व्याख्या करते थे, उनका सही समाधान प्रस्तुत करते थे। उन्होंने आत्मा की पवित्रता एवं महत्ता पर सबसे अधिक बल दिया। उनके उपदेश उन सभी लोगों के लिए थे, जिन्होंने उनके द्वारा प्रतिपादित धार्मिक आचरण को अपने जीवन में उतारना चाहा था। उनके अनुयायियों का संघ, जिसमें राजा और रंक सभी समान रूप से सम्मिलित थे, चार वर्गों में विभक्त था : साधु, साध्वियाँ, (दोनों गृह-त्यागी), श्रावक और श्राविकाएँ (दोनों गृहस्थ)। आज भी जैन-धर्म में जीवन-पद्धतियों का यही क्रम प्रचलित है।

महावीर के महान् सिद्धान्तों का प्रभाव जैनेतर भारतीय धर्मों पर भी परिलक्षित होता है। महावीर तीर्थंकर कहलाये, क्योंकि उन्होंने तीर्थ (अर्थात् नदी के घाट की तरह सबके लिए उपयोगी धर्म) का निर्माण किया; ताकि दलित मानवता इस लोक में शान्ति और परलोक में सुख प्राप्त कर सके। उनके सिद्धान्तों में निहित सार्वजनीन एवं कल्याणकारी भावनाओं के कारण ही ईसा की दूसरी शताब्दी में आचार्य समन्तभद्र ने उनके इस तीर्थ को 'सर्वोदय' नाम दिया। इस सर्वोदय नाम को गाँधी और आचार्य विनोबा के प्रयासों से आज बहुत लोकप्रियता प्राप्त हुई है। 527 ई. पू., पावापुर में 72 वर्ष की आयु में भगवान् महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया। यह दिन आज भी सारे भारत में दीपावली के रूप में सोल्लास मनाया जाता है।

महावीर के जीवन और कार्यों के सम्बन्ध में प्राचीन तथा नवीन विपुल साहित्य उपलब्ध है। और जैसा कि सभी धर्म प्रवर्तकों के साथ हुआ, उनके व्यक्तित्व को लेकर भी अनेक पौराणिक आख्यान-उपाख्यान तथा चमत्कारिक घटनाएँ जुड़ गयी हैं। जानकारी प्राप्त करने के कुछ स्रोत ऐसे हैं कि यदि इन्हें आधार माना जाये, तो साम्प्रदायिक ईर्ष्या

एवं धार्मिक पक्षपात से ऊपर उठकर महावीर के जीवन की वैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक खोज-बीन करना कठिन है। अतः ऊपर जो कुछ भी मैंने लिखा है वह महावीर के जीवन की रूपरेखा मात्र है। ऐतिहासिक अध्ययन की सामग्री के अभाव में उनके जीवन की यदि पूरी जानकारी हमें नहीं मिलती है, तो मेरी राय में हमारे लिए यह कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होगा कि हम उनके निजी जीवन के तथ्यों के वाद-विवाद में न पड़कर उनके द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तों को समझने का प्रयास करें और उन्हें अपने जीवन में उतारें।

इस सम्बन्ध में यहाँ महावीर के जन्म-स्थान वैशाली का थोड़ा-सा परिचय देना उपयुक्त होगा। यह नगर वैसे भी अपनी समृद्धि के शिखर पर था, फिर महावीर के संसर्ग से तो इसकी ख्याति भारत के धार्मिक जगत् में दूर-दूर तक फैल गयी। वैशाली के धर्मोपदेशक स्वयं त्याग और तपश्चरण का जीवन बिताते थे और मानव मात्र के उत्थान के लिए उपदेश देते थे। महावीर का स्थान इनमें सर्वप्रमुख और सर्वोपरि था। बौद्ध ग्रन्थ 'महावस्तु' के अनुसार महात्मा बुद्ध के प्रथम शिक्षक वैशाली के 'अलार' ओर 'उद्दक' थे। बुद्ध ने अपना प्रारम्भिक जीवन इनके सान्निध्य में एक जैन के रूप में बिताया था। मध्यम मार्ग के प्रवर्तन के पश्चात् वैशाली में उन्हें अधिकाधिक सम्मान मिलता गया और राजकीय सत्कार भी। उनके लिए एक उपनगर की स्थापना की गयी थी, जिसके महावत नामक उद्यान में राजप्रासाद के ऊपरी भाग में एक विश्रामगृह कूटागार शाला भी थी। वैशाली में ही द्वितीय बौद्ध-सभा का आयोजन किया गया था। इसे पवित्र स्थल माना जाता था और यहाँ संघ के अन्तर्विरोधों का निवारण किया जाता था। उनकी परम अनुयायी आम्रपाली वैशाली की ही निवासी थी। यहाँ पर उसने अपना उद्यान बुद्ध और उनके संघ की सेवा में अर्पित कर दिया था।

वैशाली का राजनैतिक महत्त्व भी था। यहाँ गणतंत्रीय शासन प्रणाली प्रचलित थी। राजा चेटक लिच्छिवि गणतंत्र के अध्यक्ष थे। उन्होंने गणराज्यों का एक गण-संघ बनाया था, जिसमें नौ लिच्छिवि गणराज्यों के अतिरिक्त मल्लकि तथा काशी-कोशल के अठारह गणराज्य भी सम्मिलित थे। 'दीघनिकाय' में विस्तार से वर्णित वज्जी गणतन्त्र अपने आप में एक उदाहरण था, जिसने गणसंघ की दक्षता और एकता में महत्त्वपूर्ण योग दिया था। इसके अतिरिक्त वैशाली एक व्यापारिक केन्द्र भी था। यहाँ के तीन विभिन्न संगठनों—साहूकारों, व्यापारियों और शिल्पियों ने अपनी-अपनी मुद्राएँ प्रचलित की थीं। फ़ाहियान की भारत यात्रा (399-414 ई.) के समय यह एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक, राजनैतिक एवं व्यापारिक केन्द्र था, किन्तु बाद की तीन शताब्दियों में इसका पतन होता गया और ह्वेनत्सांग (635 ई.) ने जब इसे देखा तो यहाँ केवल ध्वंशावशेष ही थे। आज यह स्थान मात्र छोटा-सा गांव है।

आज का भारतीय गणतंत्र बहुत-कुछ वैशाली की देन है और वज्जियों की ऐक्य

भावना हमारे प्रजातन्त्र का मूल आधार है। साथ ही, उसके अहिंसा और पंचशील के सिद्धान्त ऐसी आधारशिलाएँ हैं, जिन पर हमारी नीतियाँ निर्मित हुई हैं। राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं के रूप में क्षेत्रीय भाषाओं को प्रतिष्ठित कर भारत सरकार उस प्राचीन मगध गणराज्य की नीति का ही अनुसरण कर रही है जिसने विशेष वर्गों की भाषा की अपेक्षा जनसाधारण की भाषा को अधिक महत्त्व दिया था। इन सब बातों को देखते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि वैशाली की अब और अधिक उपेक्षा न की जाये। हमारी केन्द्रीय सरकार की सजग दृष्टि, बिहार सरकार का संरक्षण, स्व. साहू श्री शान्तिप्रसाद जैन जैसे उद्योगपतियों के उदार अनुदान और वैशाली संघ तथा श्री जगदीशचन्द्र माथुर जैसे कर्मठ कार्यकर्त्ताओं के सक्रिय प्रयत्न सराहनीय हैं, जिनके परिणामस्वरूप वैशाली आज फिर उन्नति की ओर अग्रसर है।

समय के उलटफेर और राजनीतिक उथल-पुथल के कारण वैशाली खण्डहरों में बदल गयी। हमने तो उसे लगभग भुला ही दिया। किन्तु प्रसन्नता की बात है कि वैशाली ने अपने योग्य पुत्रों को नहीं भुलाया। यहाँ के जैन और बौद्ध अवशेषों में एक उर्वर भू-खण्ड अभी भी शेष है जो यहाँ के एक सिंह या नाथ क्षत्रिय परिवार के अधिकार में है। जहाँ तक इस परिवार के लोगों की स्मृति जाती है, इस भू-खण्ड पर कभी खेती नहीं की गयी। क्योंकि उनकी प्रत्येक पीढ़ी यह विश्वास करती आ रही है कि भगवान् महावीर का जन्म इसी स्थान पर हुआ था; इसलिए यह पूजनीय स्थान है, इस पर हल नहीं चलाया जाना चाहिए। भारत के धार्मिक इतिहास में यह एक विशिष्ट घटना है कि इस परिवार के लोग 2500 वर्ष के लम्बे समय से इस स्थान की गरिमा और महावीर की स्मृति को अक्षुण्ण रखे हुए हैं।

महावीर का युग, भारत के सांस्कृतिक इतिहास में निःसन्देह एक प्रखर बौद्धिक उत्थान का युग था। केश-कम्बली, मक्खलि गोशाल, पकुध कच्चायन, पूरणकस्सप, संजयबेलट्ठिपुत्त और तथागत बुद्ध जैसे धर्मोपदेशक उनके समकालीनों में से थे। महावीर ने बहुत-कुछ अपने पूर्ववर्ती तीर्थंकरों से भी सीखा था। उन्होंने अपने पीछे न केवल एक नियमबद्ध धर्म और दर्शन की परम्परा छोड़ी, वरन् त्याग के सिद्धान्तों में दीक्षित एक व्यवस्थित समाज और निष्ठावान अनुयायियों का संगठन भी छोड़ा है जो आज तक उनके प्रतिपादित मार्ग का अनुकरण करता आ रहा है।

महावीर और बुद्ध एक ही युग में अवतरित हुए, एक ही क्षेत्र में विहार करते रहे और उन्हीं राजवंशों से दोनों का सम्बन्ध रहा। उन्होंने मनुष्य को मनुष्य के रूप में ही महत्त्व देने पर बल दिया, और जनसाधारण को उन्हीं की भाषा में उच्च नैतिक आदर्शों का उपदेश दिया जो व्यक्ति को आत्मोन्नति की ओर अग्रसर करते हैं एवं सामजिक एकता के महत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। बाद की पीढ़ियों के लिए वे उस पूर्वी या मगध-राष्ट्र धर्म के महान् प्रतिनिधि हैं, जिसे श्रमण संस्कृति कहा गया है। सौभाग्य से

उनके मूल उपदेशों का साहित्य हमारे पास सुरक्षित है। प्रारम्भिक जैन तथा बौद्ध ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से पता लगता है कि दोनों में विशिष्ट सादृश्य है। दोनों ही एक से नैतिक एवं धार्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं, जो कि न केवल गत दो हजार से भी अधिक वर्षों के समय की कसौटी पर खरे उतरे हैं, वरन् आज भी मानव समाज की अनेक समस्याओं के समाधान की कुंजी हैं। महात्मा गांधी के सत्य और अहिंसा के सिद्धान्त और आचरण को महावीर और बुद्ध के नैतिक सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में अधिक अच्छे ढंग से समझा और अनुसरण किया जा सकता है। पालि ग्रन्थों में निर्ग्रन्थ मत के सन्दर्भ जैसे और बौद्ध-धर्मों के सम्बन्ध को परखने के लिए अत्यन्त मूल्यवान हैं।

महावीर और बुद्ध के बीच वस्तुतः बहुत कुछ ऐसी समानताएँ रही हैं कि प्रारम्भ में यूरोपीय विद्वान् उन्हें एक ही मान बैठे थे। किन्तु आधुनिक शोध से प्रमाणित हो गया कि दोनों अलग-अलग व्यक्ति हैं जिन्होंने भारतीय दर्शन की विचारधारा पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ा है। ध्यान देने की बात है कि बुद्ध ने ज्ञान-प्राप्ति से पूर्व अनेक धर्माचार्यों के सिद्धान्तों को परखा था और उनकी बहुत कुछ मान्यताओं को छोड़ने के पश्चात् मध्यम मार्ग अपनाया था। महावीर के साथ यह बात नहीं थी। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती तीर्थकरों—ऋषभनाथ, नेमिनाथ और महावीर से लगभग 250 वर्ष पूर्व जनमे पार्श्वनाथ की धार्मिक विचारधारा को ही समाज के लिए उपादेय बताया था। बुद्ध ने अपनी समकालीन विचारधाराओं के साथ बहुत कम समझौता किया। उनका विचार था कि उन्होंने जिस सिद्धान्त अर्थात् मध्यम मार्ग का प्रतिपादन किया है, वह मानव समाज के लिए उनकी अपनी एक अपूर्व देन है। किन्तु महावीर अपनी समकालीन विचारधाराओं के प्रति अधिक सहिष्णु और उदार थे। वे दूसरों के दृष्टिकोण को समझने के लिए सदैव तत्पर रहते थे, इसलिए भी कि वे समाज को एक पूर्ववर्ती धार्मिक परम्परा अपनाने का उपदेश दे रहे थे; जिसमें सामयिक परिस्थितियों के अनुरूप कुछ-न-कुछ परिवर्तन आवश्यक था। हर्मन ज़ैकोबी ने लिखा है—"अब यह प्रमाणित हो चुका है कि बुद्ध और महावीर दोनों ने अपने सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार के लिए अपने राज-परिवारों का आश्रय लिया था। अपने प्रतिद्वन्द्वियों पर उनके छा जाने का कुछ हद तक यह भी कारण रहा कि उनके सम्बन्ध देश के प्रमुख उच्च घरानों से थे। बुद्ध अधिक समय तक जीवित रहे, पूरे 80 वर्ष; महावीर केवल 72 वर्ष जिये। बुद्ध का मध्यम-मार्ग नवीन था। अतः वह उस समय के अनुयायियों को अधिक आकर्षक लगा। इस कारण से उसका प्रभाव दूर-दूर तक पड़ा। महावीर के उपदेश नये और पुराने सभी अनुयायियों के लिए थे, जिसके कारण उन्होंने प्रत्यक्ष समन्वयवादी भावना से कार्य किया। नये अनुयायी बनाने का प्रश्न उनके सामने उतना नहीं था; जितना कि बुद्ध के लिए उसकी आवश्यकता थी।" इस बात के प्रमाण हैं, जैसे कि जैन और बुद्ध साधुओं के लिए निर्धारित दिनचर्या लगभग एक जैसी होने से ऐसा लगता है कि बुद्ध ने पहले कुछ दिन तक निर्ग्रन्थ जीवन की दिनचर्या का

अभ्यास किया था, जिसका उपदेश तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने बहुत पहले दिया था। ज़ैकोबी के अनुसार "निगण्ठ (निर्ग्रन्थ) पन्थ, जो आज की प्रचलित भाषा में जैन या आर्हत के नाम से प्रसिद्ध है, बौद्ध मत के प्रतिपादन से बहुत समय पूर्व ही एक महत्त्वपूर्ण पंथ के रूप में प्रचलित हो चुका था।" पालि-ग्रन्थों में महावीर को 'निगण्ठ नातपुत्त' कहा गया है। महावीर और बुद्ध दोनों ने अपने सिद्धान्त श्रमण आदर्शवाद की नींव पर विकसित किये थे। किन्तु बाद में क्षेत्र-काल-परिवर्तन के साथ-साथ दोनों की विचार-पद्धतियों में अन्तर आता गया। यही उनके अनुयायियों के साथ हुआ। जैन और बौद्ध धर्मों का बाद का इतिहास बताता है कि उपर्युक्त कारणों से जैनधर्म भारत तक ही सीमित रहा। किन्तु वह आज भी एक सक्रिय सामाजिक संस्था के रूप में विद्यमान है; जबकि बौद्ध धर्म का अधिकाधिक प्रसार लगभग समग्र पूर्वीय गोलार्ध (पूर्वी देशों) में हुआ, किन्तु धीरे-धीरे अपनी जन्मभूमि भारत में ही उसका ह्रास होता गया। महावीर और बुद्ध के सिद्धान्तों के ज्ञान और प्रचार की आज उससे कहीं अधिक आवश्यकता है; जितनी कि शिक्षित वर्ग में आज उनकी जानकारी है।

18. महावीर की विरासत : जैन साहित्य

जैनमत के इतिहास में अनेक जाज्वल्यमान रत्न विद्यमान हैं। महावीर स्वामी के पश्चात् इस धर्म का नेतृत्व बड़े-बड़े प्रभावशाली, आचार्यों-मुनियों के हाथ में रहा और इसे श्रेणिक बिम्बसार तथा चन्द्रगुप्त मौर्य जैसे राजाओं का संरक्षण मिला। जैनमत के इस अविरल प्रचार एवं प्रसार में अनेक धर्मों के ऋषियों, मुनियों, राजवंशों, समृद्ध व्यापारियों तथा श्रावक परिवारों का योगदान रहा है, जिसके कारण भारत अपनी सभ्यता एवं संस्कृति के विभिन्न पक्षों—कला, स्थापत्य, साहित्य और आचार-संहिता में जैन योगदान पर गर्व का अनुभव कर सकता है।

महावीर के उपदेश आगम ग्रन्थों में वर्णित हैं। उनकी व्याख्या के लिए अनेक मीमांसा ग्रन्थ जैसे—निर्युक्तियाँ, चूर्णियाँ भाष्य और टीकाएँ उपलब्ध हैं। अलग-अलग प्रसंगों की व्याख्या गुटकों में की गयी है। और फिर कथा साहित्य में उनका उदाहरण सहित एवं विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है। अनेक ग्रन्थकारों ने जैन सिद्धान्तों का प्रतिपादन अन्य भारतीय धर्म-सिद्धान्तों की तुलना में कहीं अधिक तर्कसंगत शैली में किया है। भारतीय साहित्य के विविध विषयों में भी जैनों का योगदान रहा है, जिसे हम प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत, तमिल, कन्नड़, प्राचीन हिन्दी तथा प्राचीन गुजराती जैसी भारतीय भाषाओं में देख सकते हैं। जैन ग्रन्थकारों ने भाषा को अपने कर्म के प्रचार-प्रसार हेतु एक साधन के रूप में ही स्वीकारा, उसे धार्मिक विवाद का कारण कभी नहीं बनने दिया। यह उनके इस व्यापक दृष्टिकोण का ही परिणाम है कि वे संस्कृत और प्राकृत को समान रूप से अपनाते रहे और इसी तरह तमिल और कन्नड़ साहित्य को भी समृद्ध

बनाते रहे। वर्षों पूर्व बूलर ने जैन साहित्य के विषय में यह लिखा था—"व्याकरण में, ज्योतिष में तथा साहित्य के विविध अंग-उपांगों में जैनों का योगदान इतना महान् रहा है कि उसके विरोधियों को भी उस पर ध्यान देना पड़ा है और उनके कुछ ग्रन्थ तो यूरोपीय वैज्ञानिक जगत् के लिए आज भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन गये हैं। जब ये जैन साधु दक्षिण के द्रविड़ जनपद में रहे, तो उनका द्रविड़ भाषाओं के विकास में महत्त्वपूर्ण योग रहा। कन्नड़, तमिल और तेलुगु भाषा-साहित्य जैन मुनियों द्वारा रखी गयी नींव पर आधारित है। यद्यपि इस प्रकार की गतिविधि ने उनके धर्म-प्रचार के मुख्य उद्देश्य को थोड़ा गौण कर दिया, फिर भी भारतीय साहित्य एवं सभ्यता के इतिहास में उनका अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना रहा"। उपर्युक्त जर्मन विद्वान् की यह मान्यता न केवल आज निर्विवाद रूप से सत्य सिद्ध हुई है, वरन् अब तक मिले पुरातात्त्विक अवशेषों और शोधों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बूलर यदि आज जीवित होते तो वे भारतीय साहित्य में जैनों के योगदान के प्रति अधिक मुखर होते। जैसलमेर, जयपुर, पाटन तथा मूडबिद्री जैसे स्थानों पर जैनों ने पाण्डुलिपियों को इतनी सावधानी और लगनपूर्वक सुरक्षित रखा है कि आज वे हमारी राष्ट्रीय सम्पदा हैं। इन संग्रहों का निर्माण इतने विवेकपूर्ण एवं उदार दृष्टिकोण से किया गया कि उसमें धार्मिक पक्षपात के लिए कोई स्थान नहीं है। जैसलमेर और पाटन के विशाल भण्डारों का निर्माण करने वालों को यह गौरव प्राप्त है कि इन भण्डारों में ऐसी-ऐसी बौद्ध पाण्डुलिपियाँ देखने को मिलीं, जिनकी जानकारी हमें अब तक मात्र तिब्बतीय अनुवादों से थी।

19. महावीर : उनका जीवन-दर्शन

जैन साहित्य के निष्पक्ष तथा तुलनात्मक अध्ययन से जीवन के प्रति जैन दृष्टिकोण अच्छी तरह समझा जा सकता है। जीवन के प्रति जैन दृष्टिकोण से हमारा तात्पर्य है—जैन अध्यात्म और आचारशास्त्र के मूल सिद्धान्तों की उद्देश्यपूर्ण और न्यायसंगत व्याख्या, जैन-जीवन के उस दृष्टिकोण से नहीं जो प्रायः आज के जैन समाज में दिखायी देता है। आध्यात्मिक दृष्टि से धर्म-पथ पर प्रत्येक आत्मा की उसके विकास की विभिन्न श्रेणियों (गुणस्थान) के अनुरूप एक निश्चित स्थिति है। यह स्थिति उसके कर्मों की सीमाओं से बँधी हुई है। उसकी उन्नति, उसके पुरुषार्थ पर निर्भर है। जैनधर्म के अनुसार ईश्वर न तो विश्व का निर्माता है और न किसी को लाभ-हानि पहुँचाने से ही उसका कोई सम्बन्ध है। वह तो एक आत्मिक आदर्श है और वह भी जिसने पूर्ण शुद्धात्म स्वरूप को प्राप्त कर लिया है। यदि उसकी पूजा या प्रशंसा की जाती है, तो केवल इसलिए कि हम उसके गुणों को अपने जीवन में उतारकर तदनुरूप शुद्धात्म स्वरूप को प्राप्त कर सकें। प्रत्येक प्राणी को अपने सभी भले-बुरे कर्मों का फल भोगना ही होगा, क्योंकि अन्तिम रूप

से वही अपने भाग्य का निर्माता है। किसी भी आत्मा का दूसरी आत्मा के साथ उसके पाप-पुण्यों का किसी प्रकार से विनिमय सर्वथा असंभव है। इस सिद्धान्त के अनुसार निश्चय ही आत्मा ऐसी किसी बाह्य शक्ति पर आश्रित नहीं है, जिसे ईश्वरीय या दैवीय कहा जा सके। इसीलिए यह सिद्धान्त मनुष्य को पूर्ण आशा और आत्मविश्वास के साथ कार्य करने की प्रेरणा देता है। आन्तरिक या बाह्य कारणों से कोई कितना ही पापी क्यों न रहा हो, उसके लिए निराशा का कोई कारण नहीं; क्योंकि उसकी आत्मा तो वस्तुतः परमात्म स्वरूप ही है, जो एक न एक दिन अपने वास्तविक स्वरूप, शुद्धात्म स्वरूप को प्राप्त कर ही लेगी।

सामाजिक प्राणी के रूप में व्यक्ति की उन्नति के लिए जैनधर्म में कुछ नैतिक मानदण्ड निर्धारित किये गये हैं। व्यक्ति जब तक अपने समाज का सदस्य है, अपने आत्मिक विकास के साथ-साथ समाज के प्रति भी उसका पूर्ण दायित्व है। यदि वह गृहस्थ-जीवन का त्याग करके संन्यास धारण कर ले तो समाज के प्रति उसका दायित्व बहुत कुछ घट जाता है। जैनधर्म के अनुसार गृहस्थ-जीवन साधु-जीवन का लघु रूप ही है, क्योंकि कोई भी गृहस्थ अपने दायित्वों का निर्वाह करते हुए स्वयं को मुनि पद के योग्य बना सकता है।

अहिंसा जैनजीवन-दर्शन का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है, जिसका तात्पर्य है—समस्त जीव-जगत् के प्रति यथासम्भव उदारता का पालन। जैनधर्म में जीव-सृष्टि की निर्धारित श्रेणियां हैं, जिन्हें कष्ट या हानि न पहुँचाने का प्रयत्न करना प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी महत्ता एवं गरिमा है। इसलिए प्रत्येक को दूसरों की गरिमा का भी उतना ही आदर करना चाहिए, जितना कि वह अपने लिए अपेक्षा करता है। उदार व्यक्ति के चारों ओर उदारता का ही वातावरण पनपता है। जैनधर्म की यह दृढ़ मान्यता है कि जीवन का योनि, रंग, जाति, सम्प्रदाय एवं राष्ट्रीयता भेद के होते हुए भी एक पवित्र अस्तित्व है। हिरोशिमा या नागासाकी का निवासी उतने ही आदर का पात्र है, जितना न्यूयार्क या लन्दन का निवासी। रंग, वस्त्र, भोजन तो बाह्य स्थितियाँ हैं। इसी प्रकार अहिंसा का पालन व्यक्ति और समाज दोनों स्तर पर आवश्यक है। इस प्रकार उदार आचरण के लिए हमारा हृदय हीनकोटि की भावनाओं जैसे—क्रोध, अहंकार, पाखण्ड, लालच, ईर्ष्या, द्वेष, आदि से मुक्त होना चाहिए।

जैन आचारशास्त्र का एक दूसरा गुण है जो हमें एक आदर्श पड़ोसी बनने की प्रेरणा देता है। तदनुसार हर एक को सत्य बोलना चाहिए और सम्पत्ति के अधिकार को मानना चाहिए। इनके द्वारा व्यक्ति समाज का विश्वासभाजन बनता है और सबके लिए सुरक्षा का वातावरण प्रस्तुत करता है। मनुष्य के विचारों में, उसकी कथनी और करनी में सामंजस्य होना चाहिए, ताकि इसके द्वारा भी वैयक्तिक तथा सामाजिक सुरक्षा का वातावरण बने। अपने निकट के पड़ोसी के साथ तो कटुता व्यवहार करें और विदेशियों

के प्रति बहुत सभ्य और उदार दृष्टिकोण अपनायें—यह मात्र पाखण्ड कहलायेगा, इससे कोई लाभ नहीं। वैयक्तिक उदारता, पारस्परिक विश्वास एवं सुरक्षा की भावना का शुभारम्भ अपने निकटतम पड़ोसी से होना चाहिए और तब इसका विकास व्यक्ति से समाज, समाज से राष्ट्र, और राष्ट्र से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर किया जाना चाहिए। ऐसा केवल सिद्धान्त में ही नहीं, व्यवहार में भी होना आवश्यक है। इन गुणों से युक्त नागरिक शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व एवं 'बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय' के सिद्धान्त का पालन करते हुए संगठित समाज और राष्ट्र की रचना कर सकता है।

जैन आचार-शास्त्र की तीसरी विशेषता है—ऐन्द्रिय सुख की लालसाओं एवं सम्पत्ति के अधिग्रहण (परिग्रह) पर दृढ़ता के साथ उत्तरोत्तर संयम रखना। इसका पालन व्यक्ति की आत्मिक एवं धार्मिक उन्नति के विभिन्न स्तरों पर होना चाहिए। एक आदर्श धर्मात्मा व्यक्ति मन, वचन और कर्म से इन सभी लिप्साओं से अपने को पूरी तरह दूर रखता है। उसकी अन्तिम सम्पत्ति उसकी एकमात्र देह रह जाती है, जिसे बनाये रखने के लिए उसकी आवश्यकताओं को भी वह उस समय स्वभावतः पूरी तरह त्याग देता है जब यह देह धर्म-साधन में सहायक नहीं रह जाती। भौतिक सुख की इच्छाओं का कोई अन्त नहीं है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह मानसिक शान्ति एवं आत्मिक संतुलन बनाये रखने के लिए इन सभी इच्छाओं एवं वासनाओं पर नियमित रूप से नियंत्रण रखने का अभ्यास करे। स्वेच्छा से सम्पत्ति के अधिग्रहण पर संयम रखना एक सामाजिक गुण कहा जायगा। इससे सामाजिक न्याय और उपभोग्य वस्तुओं के समान वितरण की समस्या सुलझेगी। शक्ति-सम्पन्न एवं समृद्ध व्यक्तियों को दुर्बल एवं निर्धन व्यक्ति का शोषण नहीं करना चाहिए, वरन् उन्हें अपनी आवश्यकताओं एवं मनोवृत्तियों पर संयम रखना चाहिए, ताकि समाज के दुर्बल वर्ग को कम से कम सामान्य जीवन निर्वाह का अवसर मिले। इन गुणों का पालन कानून के द्वारा नहीं करवाया जा सकता। यदि प्रयत्न भी किया जाय तो उससे पाखण्ड और चोरी छिपे की गयी अपराध वृत्तियों को ही बढ़ावा मिलेगा। इसलिए समझदार व्यक्तियों को स्वेच्छा से ही इन गुणों का पालन करते हुए दूसरों के समक्ष आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए, जिससे कि धीरे-धीरे एक विवेकशील समाज की रचना हो सके।

व्यक्ति के बौद्धिक निर्माण में अनेक तत्त्वों का योगदान रहता है यथा—पैतृक संस्कार, वातावरण, पालन-पोषण, अध्ययन व अनुभव। बौद्धिक निर्माण के अनुरूप ही मान्यताएँ एवं विचारधाराएँ बनती हैं। चिन्तन एवं अभिव्यक्ति के प्रति निष्ठा की कमी से कुविचार एवं कुप्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। महत्त्वाकांक्षाओं एवं प्रयोजनों के आधार पर ही व्यक्तिगत अथवा सामाजिक रूप से हमारी प्रवृत्तियाँ परिवर्तित होती रहती हैं। यही कारण है कि आपस में विचारों की समानता कम ही पायी जाती है। हम एक दूसरे के प्रति कितने ही निष्ठावान क्यों न हों, तथापि किसी एक विषय पर हमारी सहमति की

अपेक्षा प्रायः असहमति देखी जाती है। इस समस्या से निपटने के लिए जैनधर्म में चिन्तन और अभिव्यक्ति के दो महत्त्वपूर्ण उपाय सुझाये हैं। एक को 'नयवाद' तथा दूसरे को 'स्याद्वाद' कहा जाता है। 'नयवाद' विभिन्न विचारधाराओं का विश्लेषण कर उनके सापेक्षिक महत्त्व का पता लगाता है। विवेकयुक्त विश्लेषण के द्वारा जटिल प्रश्नों का समाधान खोजने की यह एक उत्कृष्ट प्रक्रिया है। नय एक विशिष्ट पद्धति है। यह पूर्णता के साथ किसी एक भाग या विचार विशेष की व्याख्या करती है; सम्पूर्ण की नहीं। विभिन्न विचारधाराओं का सामंजस्य अत्यन्त आवश्यक है; इस तरह कि सम्पूर्ण स्थिति में प्रत्येक की अपनी सापेक्षिक स्थिति बनी रहे। स्याद्वाद इसका निदान प्रस्तुत करता है। हम किसी प्रश्न का उत्तर 'हाँ' या 'नहीं' में दे सकते हैं, अथवा कुछ न कह सकने की असमर्थता भी प्रकट कर सकते हैं। एक स्थिति के यह तीन मूल कथन (भंग) हैं। इनके योग से सात अभिधान (सप्तभंग) बनते हैं जिन्हें 'स्यात्' की संज्ञा दी गयी है। 'स्यात्' अर्थात्' 'किसी अपेक्षा से होता है,' जो विवेक एवं अभिव्यक्ति की परिसीमाओं को प्रकट करता है। स्वीकार-अस्वीकार की प्रक्रिया में स्याद्वाद विभिन्न नयों की सम्पूर्ण विचारधाराओं को नियंत्रित कर उनका समन्वय करता है। प्रो. ए. बी. ध्रुव ने कहा है—'स्याद्वाद कोई ख्याली घोड़े दौड़ाने का सिद्धान्त नहीं और न ही तत्त्व-मीमांसा सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने का साधन; वरन् इसका सम्बन्ध तो मानव के मनोवैज्ञानिक एवं आत्मिक जीवन से है।' इस सिद्धान्त ने दार्शनिकों को विचारों की निष्ठा प्रदान की है और यह विश्वास जगाया है कि सत्य किसी एक व्यक्ति के एकाधिकार की वस्तु नहीं है और न ही उसका किसी सम्प्रदाय या धर्म विशेष की सीमा में मूल्यांकन किया जा सकता है। यह तो धर्माचरण के इच्छुक व्यक्ति को उस बौद्धिक सहिष्णुता धारण करने की प्रेरणा देता है जो अंहिसा के सिद्धान्त का ही एक भाग है और जो जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्तों में से एक है।

मनुष्य का ज्ञान सीमित है और उसकी अभिव्यक्ति अपर्याप्त। यही कारण है कि विभिन्न सिद्धान्त अपूर्ण हैं, वे अधिकांशतः सत्य के एकांगी स्वरूप की व्याख्या करते हैं। सम्पूर्ण सत्य को शब्दों या विचारों की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। जैनधर्म ने सदैव इस बात को गलत ठहराया है कि कोई सम्प्रदाय विशेष ही सत्य का प्रतिनिधित्व करता है। इसीलिए सहिष्णुता, जैन विचारधारा का एक विशिष्ट गुण मानी जाती है। इस सम्बन्ध में तो जैन सम्राटों और जैन सेनापतियों के कार्य भी स्पष्ट और प्रशंसनीय रहे हैं। भारत के राजनैतिक इतिहास में जैन राजाओं द्वारा अत्याचार या उत्पीड़न का कोई उदाहरण नहीं मिलता; उस समय भी जबकि अन्य धर्मावलम्बियों की धार्मिक कट्टरता ने जैन मुनियों एवं जनसाधारण पर अत्याचार किये। डॉ. सालेतोरे ने ठीक ही कहा है— "हिन्दू संस्कृति में अहिंसा एवं सहिष्णुता के सिद्धान्त जैनों की महान् देन है। अपने मत के पालन में जैनों की कट्टरता और विरोधियों को धार्मिक विवाद में परास्त करने के

उनके बुद्धि-चातुर्य को कुछ भी कहा जाय, किन्तु इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि जैनों ने भारत के अन्य किसी भी सम्प्रदाय से अधिक सफलता पूर्वक धार्मिक सहिष्णुता का पालन किया है।"

एक समय था जब मनुष्य प्रकृति की दया पर आश्रित था। आज वह उसका दास नहीं है; बल्कि प्रकृति के गूढ़ रहस्यों को खोजकर वह उसका स्वामी बन बैठा है। विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में तेजी से प्रगति हुई है। न्यूकिलयर भौतिकी तथा अणु-आयुधों के क्षेत्र में वैज्ञानिक उपलब्धि इतनी आश्चर्यजनक है कि यदि मनुष्य चाहे तो सम्पूर्ण मानव जाति का विनाश करके पृथ्वी का स्वरूप ही बदल दे। इस प्रकार मानव जाति आज विनाश के कगार पर खड़ी है, उसका मन अस्पष्टता और संशय से ग्रस्त है। वह उसी कगार की ओर दौड़ रही है जिससे वह बचना चाहती है। स्पष्ट है, हमें अपने मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन करना होगा।

विज्ञान की प्रगति उत्तरोत्तर सुख प्राप्त करने की मानवीय अभिलाषा का ही अंग है। किन्तु दुर्भाग्य से, मनुष्य को मनुष्य के रूप में ठीक से नहीं समझा गया है। और इस सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी बड़ी ही गलत भाषा का प्रयोग होता आया है। कुछ लोगों की दृष्टि में मनुष्य का अर्थ है—सिर्फ गोरी चमड़ी का मनुष्य। निश्चित ही यह दृष्टिकोण सभी नैतिक आदर्शों के प्रतिकूल है। विश्व के कुछ भाग इसलिए अधिक सभ्य कहलाते हैं, क्योंकि वे दूसरे भागों की कीमत पर सभ्य बने हैं। अब समय आ गया है कि औपनिवेशिक शोषण का स्थान सम्पूर्ण मानव जाति की सहयोगपूर्ण एवं सामूहिक उन्नति को मिलना चाहिये। अलगाव और सर्वाधिपत्य की भावनाओं के स्थान पर मनुष्य के महत्त्व और गरिमा की प्रतिष्ठा होनी चाहिये। वैज्ञानिक कौशल में भी साधु वृत्ति और विवेक का समावेश आवश्यक है। इस प्रकार मानव को मानव के रूप में समझना होगा। आज के प्राविधिक सामंजस्य के संसार में हम में और दूसरों में बहुत कम अन्तर रह गया है। हमारा अपना कल्याण दूसरों के कल्याण की भावना के साथ ही संभव है। अहिंसा का सिद्धान्त विश्व-नागरिक के इस मानवीय दृष्टिकोण को आवश्यक भूमिका प्रदान करता है। आवश्यकता है उसे ठीक तरह से समझने की और सही ढंग से व्यवहार में लाने की।

मनुष्य द्वारा संगठित प्रयत्नों से किये गये घृणित कार्यों से हमें निराश होने की आवश्यकता नहीं। कर्म का सिद्धान्त बताता है कि अपने भाग्य के निर्माता हम स्वयं हैं। अपना ध्यान हमें स्वयं रखना होगा। अपने प्रयोजनों का विश्लेषण और उद्देश्यों का आकलन व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप से हमें स्वयं करना होगा किसी शक्ति के आगे पक्षपात से या डर से बिना झुके। और इस प्रकार हमें पूर्ण आत्म—विश्वास एवं इस आशा के साथ कार्य करना होगा कि मानवीय अस्तित्व और कल्याण के लिए प्रगति आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति में एक दिव्य क्षमता है। उसका कार्य है कि वह धर्म-पथ का अनुसरण

करता हुआ उस दिव्यता को जाने, पहचाने और अनुभव करे। भौतिक विज्ञान एवं प्राविधिक कौशल ने भी हमें शक्ति सम्पन्न बनाया है। निश्चय तो यह करना है कि मानव समाज के कल्याण के लिए हमें उत्तरोत्तर उन्नति करनी है या उस शक्ति के अविवेकपूर्ण प्रयोग से स्वयं को रेडियम-धर्मी धूल में परिवर्तित कर देना है।

आदर्श पड़ौसी बनने की भावना का विकास और परिग्रह-वृत्तियों पर संयम—ये दोनों ऐसे गुण हैं जो एक दूसरे के सहारे से बढ़ते हैं। जो बात एक व्यक्ति के लिए सच है, वही सम्पूर्ण सामाजिक या राजनैतिक वर्ग के लिए भी सच है। जो व्यक्ति स्वयं को नहीं जानता या जानना नहीं चाहता, वह अपने या दूसरों के साथ कभी शान्ति-पूर्वक नहीं रह सकता। स्वयं को और दूसरों को ठीक-ठीक जानने से ही पारस्परिक संशय दूर किये जा सकते हैं, युद्ध की विभीषिका को टाला जा सकता है और इस प्रकार शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का यथार्थ वातावरण तैयार किया जा सकता है।

20. उपसंहार

आजकल बड़े ही अद्‌भुत ढंग से विचार एवं वाणी-स्वातन्त्र्य पर कुठाराघात हो रहा है। निहित स्वार्थों के प्रचारवाद के द्वारा न केवल तथ्यों को छिपाया जाता है; वरन् उन्हें तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया जाता है। और इस प्रकार दुनिया को गुमराह किया जाता है। इसलिए विचारशील व्यक्ति को सतर्क रहते हुए नयवाद तथा स्याद्वाद के सिद्धान्तों के अनुसार अपने ज्ञान की सीमाओं को समझना तथा दूसरों के दृष्टिकोण का आदर करना सीखना चाहिए। मनुष्य के रूप में हमें मनुष्य के विश्वास को खोना नहीं चाहिए। हमें मानव मात्र का आदर करना चाहिए और यह प्रयत्न करना चाहिये कि मानव स्वस्थ तथा प्रगतिशील स्थितियों में रहकर विश्व-नागरिक बने। निस्संदेह जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्तों—अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकान्त को ठीक से समझकर और निष्ठापूर्वक उन्हें व्यवहार में लाकर विश्व का योग्य नागरिक बना जा सकता है।

□□□

भारतीय ज्ञानपीठ

स्थापना : सन् 1944

उद्देश्य

ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध और अप्रकाशित सामग्री का अनुसन्धान और प्रकाशन तथा लोकहितकारी मौलिक साहित्य का निर्माण

संस्थापक

स्व. साहू शान्तिप्रसाद जैन

कार्यालय : 18 [illegible] नयी दिल्ली-110 003